आत्मा और पुनर्जन्म

सोमा सबलोक

विश्व बुक्स

आत्मा और पुनर्जन्म

सोमा सबलोक
पूर्व एएसपीडी

विश्व बुक्स

प्राक्कथन

'सरिता' (अप्रैल/द्वितीय/1978) में 'आत्मा और पुनर्जन्म' (आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर) शीर्षक से मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ था. इस लेख पर कुछ व्यक्तियों ने सरकार से शिकायत की थी कि इस के प्रकाशन से उन की धार्मिक भावनाओं या आस्थाओं को ठेस पहुंची है. इसलिए 'सरिता' के संपादक श्री विश्वनाथ और लेखिका श्रीमती सोमा सबलोक पर भारतीय दंड संहिता की धारा 295-ए के अंतर्गत मुकदमा चलाया जाए.

दिल्ली सरकार ने यह मुकदमा दिल्ली के मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के यहां दायर किया. मैं ने चार्ज लगाते समय एक लिखित बयान दिया ताकि यह साबित किया जा सके कि लेखिका तथा संपादक ने किसी प्रकार से किसी भी व्यक्ति की धार्मिक भावनाओं को ठेस नहीं पहुंचाई है.

वस्तुतः मैं ने यह लेख सत्यअन्वेषक के तौर पर लिखा है, न कि हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचाने के लिए. मैं स्वयं हिंदू धर्मावलंबी हूं. मेरा जन्म सनातनी हिंदू परिवार में हुआ. मैं ने फिलासफी ले कर बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर हिंदी में एम.ए. की परीक्षा पास की.

मेरे ससुराल वाले न सिर्फ सनातनी हिंदू धर्म को मानते हैं, बल्कि मेरे ससुर पं. अमरनाथ शास्त्री, शास्त्रार्थ महारथी विभाजन से पूर्व सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा, पंजाब (लाहौर) के वर्षों धर्म प्रचारक रहे हैं और पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री पास हैं.

मेरे पति संस्कृत और हिंदी दोनों में एम.ए. हैं और संस्कृत में पीएच.डी. वह संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक भी हैं. उन्होंने अंगरेजी, हिंदी और पंजाबी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं और संस्कृत की विभिन्न पत्रपत्रिकाओं में उन के लेख छपते रहते हैं. ऐसे में हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने के लिए मेरे द्वारा कुछ भी लिखे जाने की संभावना तक नहीं रहती.

मेरे व संपादक के बयान तथा ठोस दलीलों को स्वीकार करते हुए श्री सुभाष वासन, अतिरिक्त मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने 2/12/83 को

किसी प्रकार का चार्ज लगाने से मना कर दिया और सरकारी मुकदमा खारिज कर दिया. प्रस्तुत पुस्तक मेरे द्वारा अदालत में दिए गए वक्तव्यों पर आधारित है.

सोमा सबलोक

विषय सूची
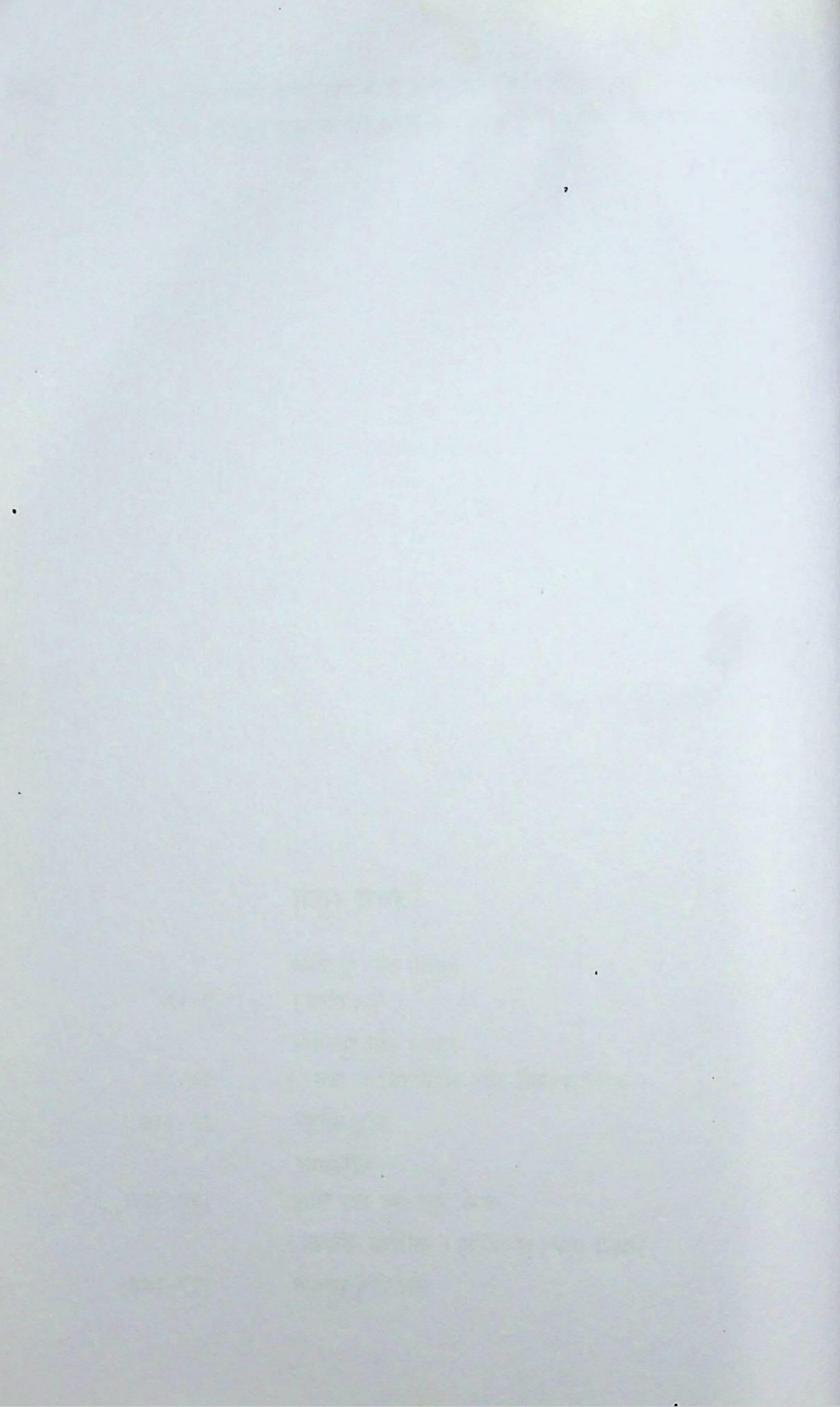
आत्मा और पुनर्जन्म
(मूल लेख)

आत्मा और परमात्मा का सिद्धांत धर्म के ठेकेदारों द्वारा गरीब जनता को लूटने हेतु ही खोजा गया था.

शास्त्रों में कहा गया है कि हर प्राणी में आत्मा नाम का एक तत्त्व होता है. इसे सिद्ध करने के लिए कई प्रकार के प्रमाण दिए जाते हैं. आत्मा के कई विशेषण बताए गए हैं, जैसे आत्मा अमर है, अविनाशी है, नित्य है, सनातन है और अचल है. (देखें–गीता 2-24). शास्त्रों का कहना है कि व्यक्ति के हर काम के पीछे आत्मा का हाथ होता है–'आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवति' (बृहदारण्यक उपनिषद्). मानव शरीर जब समाप्त हो जाता है तो आत्मा उस से निकल कर उड़ जाती है, फिर कहीं और जन्म लेती है. इस प्रकार जब तक आत्मा जन्ममरण के चक्र से छूट नहीं जाती, वह बारबार जन्म ले कर अपना अस्तित्व कायम रखती है. ऐसे बहुत से प्रमाण अध्यात्मवादियों द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दिए जाते हैं.

कहा जाता है, 'आत्मा अमर है वह मनुष्य को पाप करने से रोकती है.' पर इस का क्या प्रमाण है कि आत्मा अमर है? कहते हैं, 'आत्मा सारे शरीर में व्याप्त रहती है.' शरीर आयु के साथ बढ़ता रहता है और अंत में समाप्त हो जाता है. इस प्रकार उस में आत्मा नामक जो चीज है वह भी अवश्य ही शरीर के मुताबिक बढ़ती होगी और अंत में समाप्त हो जाती होगी, क्योंकि शरीर के बिना और कहीं तो उस का निवास स्थान है नहीं. शरीर नाशवान है तो उस में व्याप्त रहने वाली आत्मा भी निश्चय ही नाशवान है.

अगर आत्मा अचल है, जैसा कि गीता (2-24) में कहा गया है तो फिर वह देह से निकल नहीं सकती और न ही किसी दूसरे शरीर में प्रवेश कर के पुनः जन्म ले सकती है. आत्मा को अचल कहते हुए उस का पुनर्जन्म मानना परस्पर विरोधी बातें हैं.

आत्मवादियों का विचार

आत्मवादियों का कहना है कि मनुष्य स्वप्न देखता है और सुबह उसे खयाल

आता है कि मैं ने स्वप्न में फलांफलां चीज देखी. अगर वह गहरी नींद सोया हो और उस ने स्वप्न न देखा हो तो वह कहता है कि मैं अच्छी नींद सोया. यह स्वप्न या अच्छी नींद सोने वाला तत्त्व आत्मा है. वास्तव में स्वप्न कोई आत्मा नाम की वस्तु नहीं देखती. मनोविज्ञान हमें बताता है कि स्वप्न तो मानव का अचेतन और अवचेतन मन देखता है.

आत्मा का स्वरूप

कई लोगों का कहना है कि स्पर्श, श्रवण, स्वाद, दृष्टि आदि चेतनाओं का समूह 'आत्मा' कहलाता है. जब कि वास्तविकता यह है कि ये चेतनाएं देह में अलगअलग अंगों से ही होती हैं और ये अंग एकदूसरे से भिन्न हैं. इन्हें हम ज्ञानेंद्रियां भी कहते हैं, अगर इन का समूह ही आत्मा होती तो फिर किसी एक ज्ञानेंद्रिय के खराब होने पर दूसरी ज्ञानेंद्रिय द्वारा वह काम पूरा हो जाना चाहिए था. या दूसरे अंग के बिना ही आत्मा को उस का बोध हो जाना चाहिए था, जैसे बहरे व्यक्ति की आंख सुनने का काम कर देती और अंधे के कान देखने का. पर ऐसा नहीं होता, प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय अपनाअपना ही काम करती है. आंख सुनने का और कान देखने का काम नहीं कर सकते. फिर जब प्रत्येक अंग स्वतंत्र रूप से अपना काम करता है, तो इस में आत्मा नाम की चीज की क्या तुक? यदि उपर्युक्त चेतनाओं का समूह आत्मा का है, तो अंधे, काने, बहरे या गूंगे व्यक्ति की आत्मा नित्य, अमर, शाश्वत और अजर नहीं कही जा सकती क्योंकि यदि ऐसा व्यक्ति विकृत कहा जा सकता है तो ऐसी आत्मा भी विकृत ही कही जाएगी, तब वह नित्य, एकरस व अखंड नहीं हो सकती.

कुछ लोग कहते हैं कि बुद्धि ही आत्मा है. वह आत्मा अपरिवर्तनशील और अविनाशी है. ये विशेषण उस के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करते. व्यक्ति की बुद्धि में, उस के ज्ञान में जो परिवर्तन होता है, उस का बोध सभी को है और फिर यदि यह आत्मा ही बुद्धि है तो बुद्धि तो परिवर्तनशील है और नाशवान भी है. इस के साथ आत्मा भी तो नाशवान और परिवर्तनशील ही हुई. आत्मा के अस्तित्व के बारे में ये परस्पर विरोधी विशेषण उस के अस्तित्व को नकारते हैं.

एक तर्क यह भी दिया जाता है कि आत्मा शाश्वत और स्वतंत्र पदार्थ है. पर यह तर्क भी सत्य की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता. अगर वह स्वतंत्र पदार्थ है तो वह बिना देह के दृष्टिगोचर होना चाहिए, पर ऐसा नहीं है. केवल शब्दों से क्या होता है, क्या ऐसी हालत में उस का अस्तित्व स्वीकारा जा सकता है?

यदि यह कहा जाए कि 'अभौतिक पदार्थ होने के कारण' दैहिक (भौतिक) इंद्रियों के द्वारा इसे देखापरखा नहीं जा सकता, तो निवेदन है कि जिन लोगों ने उसे जिन इंद्रियों के द्वारा देखापरखा है, वे लोग दूसरों को भी (जो इस का होना नहीं मानते) वे इंद्रियां प्रदान करें ताकि दूसरे भी उस को देख कर उलझन से दूर

हो सकें, अन्यथा यह कहना कि अभौतिक आत्मा को दैहिक इंद्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता, स्वीकारा नहीं जा सकता.

वास्तव में आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है. बुद्ध ने आत्मा की 62 प्रकार की कल्पनाओं को परीक्षा के आधार पर मिथ्या सिद्ध किया. 'सब्बासकसुत्त' नामक पुस्तक में श्रावस्ती के जेतवन में अनाथ पिंडक के विहार में उन्होंने कहा है, "इस क्षणिक आत्मा को अपरिवर्तनीय, नित्य समझना तथा ऐसा समझना कि वह सदा से थी और सदा रहेगी, एक भ्रांति है, भ्रांति का ग्रास है, भ्रांति का वन है, भ्रांति की खाई है, इस भ्रांति में रहने वाले को जन्म, जरा, मृत्यु, दुख, रुदन और अशांति की बुराई से छुटकारा नहीं."

आत्मा का आकार

उपनिषदों की आत्मा संबंधी परस्पर विरोधी मान्यताएं भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करने देतीं. 'कठ उपनिषद्' (2-6-17) में कहा गया है, 'अंगुष्ठमात्र: आत्मा:' अर्थात आत्मा अंगूठे के आकार की है. एक अंगूठे के रूप में वह मानव की इतनी बड़ी देह में कैसे व्याप्त हो सकती है?

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' (5-9) में कहा गया है कि 'एक बाल के अगले भाग के सौ टुकड़ों में से एक टुकड़ा लो. उस टुकड़े के सौवें हिस्से के बराबर आत्मा होती है.' यह तर्क तो आत्मा के सारे देह में व्याप्त होने की बात को बुरी तरह काटता है. यदि आत्मा अदृश्य है तो फिर उन महाशय ने आत्मा कहां से देख ली जो उस के आकार का वर्णन करने बैठ गए? फिर 'छांदोग्य उपनिषद्' (3-1-14-2) में कहा गया है, 'आत्मा जौ के दाने से छोटी होती है.' एक तरफ तो बाल के सौवें हिस्से का सौवां हिस्सा और दूसरी तरफ जौ का दाना? इन में क्या कोई अंतर नहीं? 'मुंडकोपनिषद्' (3-1-9) कहता है, 'आत्मा अणु के समान है.' ऐसे कई परस्पर विरोधी मत हैं, जो किसी भी विचारक को उलझन में डाल देते हैं और इस प्रकार आत्मा एक अस्वीकार्य वस्तु रह जाती है.

गीता (13-33) में कहा गया है, 'जैसे एक सूर्य सारे जगत को प्रकाशित करता है, वैसे एक ही आत्मा सब शरीरों को प्रकाशित करती है, अर्थात सब में एक ही आत्मा है.' यदि सब में एक ही आत्मा है तो फिर एक इनसान को ही प्यास बुझानी चाहिए थी, एक को ही खाना खाना चाहिए था और उस से सब की भूखप्यास आदि इच्छाएं तृप्त हो जानी चाहिए थीं. इतनी बड़ी सृष्टि की क्या जरूरत थी. पर सृष्टि भी इतनी बड़ी है और सृष्टि के मनुष्यों की चेतनाएं और इच्छाएं भी भिन्नभिन्न हैं. इस प्रकार यह वृहद् सृष्टि और इस में विद्यमान अनंत आत्माएं आत्मा के एक होने को धता बतलाती हैं.

गीता (15-7) और 'ब्रह्मसूत्र' (2-3-42-53) में कहा गया है, 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:' अर्थात जीव मेरा ही अंश है. परमात्मा को सर्वज्ञ,

सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी कहा जाता है, लेकिन इनसान परमात्मा की तरह नहीं है. उस में तो परमात्मा के उक्त विशेषणों में से एक भी नहीं है. सोने की ईंट से यदि थोड़ा सा सोना निकाल लें तो टुकड़ा भी सोना ही रहता है, लोहा नहीं बन जाता. यदि जीव ब्रह्म का ही रूप है तो फिर वह परमात्मा के गुणों से युक्त क्यों नहीं? परमात्मा (?) और मानव की यह भ्रामक द्वैधता दोनों के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा देती है.

यदि गीता के अंशअंशी के सिद्धांत को मान भी लिया जाए तो परमात्मा नित्य, पूर्ण अखंड और निर्विकार नहीं रह सकता, क्योंकि जिस के अलगअलग अंश हो जाएं वह तो अनित्य, अपूर्ण, खंडित और विकारग्रस्त तथा नश्वर हो जाता है. इस प्रकार आत्मा को सिद्ध करतेकरते परमात्मा से भी हाथ धो बैठेंगे. दरअसल भौतिक तत्त्वों से पृथक आत्मा नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं. (देखें: बृहस्पति सूत्र)

छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा पुनर्जन्म लेती है. वह 84 लाख योनियों में चक्कर लगाती है. यदि इनसान इस जन्म में अच्छे काम करता है तो अगले जन्म में अच्छा फल पाता है, और यदि नीच काम करता है तो बुरा फल पाता है.

पहले तो यह कहना कि पुनर्जन्म होता है, असंभव और तुकहीन बात प्रतीत होती है, क्योंकि किसी ने भी अगली दुनिया (?) नहीं देखी. जो एक बार मर जाता है वह फिर आ कर नहीं बताता कि अगली दुनिया है या नहीं. पुनर्जन्म के बारे में ये लोग तर्क देते हैं कि कइयों को मरते वक्त अगला जन्म या दुनिया दिखाई देने लगती है, और वे उस दुनिया की बातें करने लगते हैं, पर यह बात महत्त्वहीन है. अगर पुनर्जन्म है और आत्मा पुनः जन्म लेती है तो फिर ऐसा क्यों होता है कि मरते वक्त हिंदू को तथाकथित हिंदू देवीदेवता ही दर्शन देते हैं, मुसलमान को अपना खुदा ही दिखाई देता है, और ईसाई को ईसा. हिंदू की आत्मा को मुसलिम देवीदेवता या मुसलिम की आत्मा को हिंदू देवीदेवता क्यों नहीं दिखाई देते? यदि आत्मा एक है तो फिर धर्मभेद क्यों? ये धर्म तो मानव निर्मित हैं. इसी प्रकार यह आत्मा भी मानव की ही कपोल कल्पना है.

मनगढ़ंत सिद्धांत

दूसरे, ये लोग तर्क देते हैं कि अमुकअमुक शास्त्रों में कहा गया है कि आत्मा है और पुनर्जन्म लेती है. आखिर इन धर्मशास्त्रों के रचयिता भी तो मानव ही थे. उन्होंने भी तो अगला जन्म नहीं देखा था. वास्तव में मानव सारी जिंदगी जिस प्रकार के विचार सुनता रहता है, वे उस के मन में घर कर जाते हैं और इस दुनिया से जाते वक्त वे ही विश्वास उस के मन में घूमते रहते हैं. (देखें : स्वामी रामतीर्थ कृत 'इन वुड्स आफ गाड रियलाइजेशन'). बस, पुनर्जन्म की बात करने की तो परिपाटी ही हो गई है.

रही अगले जन्म में कर्मों के अनुसार फल मिलने की बात. जगत में मनुष्यों की भिन्नभिन्न स्थितियां हैं. कोई अमीर है तो कोई गरीब, कोई मूर्ख है तो कोई विद्वान. यदि यह कर्मों का फल है तो कण, कंकड़ और पत्थरों का भी पुनर्जन्म मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि कर्मों के अनुसार मानव मूर्ख या गरीब बन सकता है तो वह पत्थर भी जरूर बन सकता है. सिर के कुछ बाल पहले ही सफेद हो जाते हैं और कुछ बाद में. कर्मों के सिद्धांत के मुताबिक यह भी मानना ही होगा कि पहले सफेद होने वाले बालों ने पहले जन्म में जरूर ही कोई नीच काम किया होगा तभी तो जल्दी सफेद हो गए.

यदि इस जन्म में मानव पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगता है तो फिर चोर, डाकू या किसी की बहूबेटी से बलात्कार करने वाले को किसी प्रकार का दंड नहीं मिलना चाहिए और न ही भुक्तभोगी को इस के विरुद्ध कहीं न्याय की मांग करनी चाहिए, क्योंकि उस को अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगना ही है. पर मानव न्याय की मांग करता है और उस वक्त वह ये सब बातें भूल जाता है कि वह पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोग रहा है. स्पष्ट है कि पूर्वजन्म का सिद्धांत अकर्मण्यता पैदा करने वाली एक मनगढ़ंत बात है.

वास्तव में पूर्वजन्म के कर्मों के फल का सिद्धांत धनिक वर्ग के लोगों और धर्म के ठेकेदारों के उन पिट्ठुओं के द्वारा बनाया गया है, जो गरीब भोलीभाली जनता को लूटना चाहते थे और उन्हें उन की गरीबी में ही संतुष्ट रखना चाहते थे.

एक तर्क यह भी दिया जाता है कि आत्मा की न तो शरीर के साथ उत्पत्ति होती है और न ही मृत्यु के साथ विनाश. अगर ऐसा है तो फिर आत्मा मैथुनक्रिया के बाद ही शरीर में क्यों आती है. उस से पहले क्यों नहीं? मैथुन से पहले उस का वीर्य में विद्यमान होना भी असंभव सी बात है, क्योंकि वीर्य कोई अचल द्रव्य नहीं है. वह तो संपूर्ण शरीर के अंगों का रसविशेष होता है. यदि उस में आत्मा का सूक्ष्म रूप में होना कहा जाए तो गलत बात होगी, क्योंकि यह कहा जाता है कि एक शरीर में एक ही आत्मा होती है, तब फिर उस में अन्य आत्माएं कहां से आ गईं और एक शरीर में एक से अधिक आत्माएं किस तरह रह सकती हैं?

यदि क्षण भर के लिए मांबाप की देह में एकाधिक आत्माओं का होना मान लिया जाए तो यह भी माना जा सकता है कि उन के शरीर से आत्मा संतान के शरीर में आ सकती है. पर किसी अन्य की आत्मा उस की (संतान की) देह में कैसे आ सकती है? यह कैसे हो सकता है कि व्यक्ति विशेष के शरीर से उत्पन्न होने वाली संतति के शरीर में किसी बैल या कौए की आत्मा प्रविष्ट हो जाए?

यदि पिता की देह की आत्मा ही बच्चे की देह में आ जाती है तो फिर बच्चे को पैदा करने के बाद पिता को मर जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता. स्पष्ट है कि पिता के वीर्य का एक अंश ही बच्चा होता है न कि उस की आत्मा का.

यह कहना कि 'दुखसुख आत्मा के पूर्व कर्मों के फल हैं,' एक बेतुकी सी

बात है. इस जन्म में दुखी मानव के दुखों को इस जन्म की बीमारियों के मुताबिक ही नाम दिया जाता है और उन बीमारियों और दुखों के कारण भी इस जन्म के मुताबिक ही होते हैं. यदि यह सब पूर्वजन्म के कर्मों के मुताबिक होता है तो फिर उन्हें (दुखतकलीफों को) उस पूर्वजन्म के नाम ही क्यों नहीं दिए जाते? कैसी बेतुकी बात है कि दुख पूर्वजन्म के नाम और कारण इस जन्म के? यदि पेंसिल तराशते समय हाथ में ब्लेड लग जाए तो रक्त निकल आता है. ऐसे में यह क्यों नहीं कह देते कि पिछले जन्म में कोई काम किया था, ब्लेड के साथ और हाथ कट गया था, उस से अब रक्त निकल रहा है?

यदि कर्म का फल जन्मांतर में होता है तो फिर नष्ट हो चुकी क्रिया का फल भी मिलना चाहिए. जैसे 'क' ने 'ख' को जल पिलाया क्योंकि वह प्यासा था. वह जल पिलाने की क्रिया उसी वक्त नष्ट हो गई, जब वह जल पी चुका था. तो फिर उस नष्ट हो चुके कर्म के फल की जन्मांतर में उत्पत्ति कैसे हो जाएगी? अगर ऐसा होता है तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि मृत पिता से बच्चे की उत्पत्ति हो सकती है.

कहते हैं परमात्मा कर्मों के अनुसार उचित फल देता है. पर तर्क की कसौटी पर यह तर्क ठीक नहीं उतरता. जैसे 'क' ने 'ख' का हाथ काट दिया. यदि 'ख' हाथ काटे जाने का अधिकारी था तो उसे यह फल उचित ही मिला. तब 'क' को सजा नहीं मिलनी चाहिए क्योंकि उस ने 'ख' का हाथ काट कर उचित काम ही किया. लेकिन होता इस के विपरीत है. स्वयं अध्यात्मवादी भी जन्मांतर के फलों को भोगने के लिए शांत नहीं बैठे रहते. यही इस सिद्धांत की निस्सारता का सब से बड़ा प्रमाण है.

आत्मा नश्वर है

आत्मा के अचल और अविनाशी आदि विशेषण भी एकदूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं. प्राय: होता यह है कि जिन भौतिक विकारों का पिता के वीर्य तक प्रवेश हो जाता है, वे विकार बच्चे की देह में भी अवश्य आ जाते हैं. जैसे अर्श व कुष्ठादि रोग. उधर मानव बूढ़ा हो कर भी मरता है और युवा तथा शिशु अवस्था में भी. सिद्धांत के अनुसार, यदि आत्मा जन्म लेती है तो बूढ़े की आत्मा को बूढ़े का ही जन्म लेना चाहिए और जवान की आत्मा को जवान के रूप में ही, पर ऐसा होता नहीं. मानव हमेशा शिशु रूप में ही जन्म लेता है. अविनाशी और अचल आत्मा जवान या बूढ़ी होते हुए भी शिशु के रूप में बदल गई. इस प्रकार उस के विशेषज्ञों में परस्पर विरोध आ गया और इस विरोध ने उस का न होना ही सिद्ध कर दिया है.

अगर आत्मा है, और वह नित्य है, पूर्ण देह में निवास करती है, तो शरीर के दो फांक करने पर भी उसे अपने कथित स्वतंत्र गुण के मुताबिक, दोनों फांकों में विद्यमान होना चाहिए. अग्नि में तपे हुए पाषाण के दो टुकड़े करने पर भी उन में

अग्नि प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देती है. पर मानव शरीर की दो फांकें करने पर वह आत्मा दिखाई तो क्या पड़ेगी, वह तो वहां से निकल ही भागती है. जब कि होना यह चाहिए कि वह पाषाण स्थित अग्नि की तरह अपना अस्तित्व कायम रखे.

कर्म के अनुसार फल

अगर आत्मा सारे शरीर में ही व्याप्त है, तो किसी चीज का संवेदन मन को ही क्यों होता है और किसी वस्तु का ज्ञान बुद्धि को ही क्यों होता है? आत्मा के देह में व्याप्त होने के सिद्धांत के अनुसार मन को अनुभव करने का और दिमाग को सोचने का काम नहीं करना चाहिए, क्योंकि आत्मा सारे शरीर में जो व्याप्त है और सारी चेतनाओं का समूह है. मानव के खून में करोड़ों, अरबों जीवाणु और विषाणु रहते और पनपते हैं, जिन्हें उस मानव शरीर से अलग भी जीवित रखा जा सकता है और उन की संख्या बढ़ाईघटाई जा सकती है. अब प्रश्न उठता है कि क्या प्रत्येक जीवाणु में भी आत्मा का अस्तित्व माना जाएगा या नहीं, यदि प्रत्येक में आत्मा है तो इस का अर्थ यह हुआ कि एक शरीर में अरबों आत्माएं रहती हैं. अब सवाल यह है कि व्यक्ति की असली आत्मा कौन सी हुई?

यदि यह माना जाए कि जीवाणु व विषाणु में आत्मा नहीं है तो स्वाभाविक प्रश्न है, क्यों नहीं? उन में जीवन है, वे उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं और मरते भी हैं. संख्या में बढ़ते भी हैं, घटते भी हैं. तब उन में क्यों आत्मा नहीं मानी जाए? असली रूप में मानव क्या है, इस का ज्ञान स्वार्थी और आदर्शवादी दार्शनिक नहीं देते. वरन मानव को उलझाए रखने के लिए और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उसे बारबार कहते हैं, 'तुम्हारे अंदर आत्मा है, वह जब पुनर्जन्म लेती है तब तुम्हें कर्मों के अनुसार फल मिलता है.'

इस उलझन को आचार्य चार्वाक सुलझाते हैं, 'कि हम जो साक्षात हैं, वही हैं. हम में न कोई आत्मा है, न हमारे अंदर कोई रहस्यमयी शक्ति. आत्मा और पुनर्जन्म का सिद्धांत निरा धोखा है. हमें पता है, हम जो कुछ हैं. हम हम ही हैं, हम में कोई आत्मा नहीं.'

स्पष्ट है कि आत्मा नाम की न कोई चीज है और न ही उस का पुनर्जन्म होता है.

(उपरोक्त लेख सरिता के जुलाई/प्रथम/1977 में प्रकाशित है.)

आत्मा और पुनर्जन्म

(आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर)

सरिता के जुलाई/प्रथम/1977 अंक में छपे मेरे लेख 'आत्मा और पुनर्जन्म' पर बहुत से ऐसे लोगों ने आक्षेप किया है, जिन को दर्शन का थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं और जिन की प्रायः प्रत्येक पंक्ति में कम से कम दोतीन शाब्दिक गलतियां भी थीं. ऐसे लोगों के आक्षेपों को पढ़ कर यह सोचने पर मजबूर होना पड़ता है कि जो लोग अपनी बात को सही शब्दों में नहीं लिख सकते, वे किस आधार पर इस विषय पर कोई आपत्ति उठा सकते हैं.

मैं ने लिखा था कि आत्मा सर्वत्र व्यापक नहीं हो सकती, क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सभी इनसानों को एक समय और एक समान भूखप्यास नहीं लगती और एक साथ दुखसुख का भी अनुभव नहीं होता.

इस पर एक पाठक ने लिखा है कि भूखप्यास आदि तो शारीरिक कर्म हैं. आत्मा उन में लिप्त नहीं होती अर्थात सब प्रकार के कर्म प्रकृति के सत्व, रज और तम गुणों के कारण होते हैं. इन से आत्मा का कोई वास्ता नहीं.

यह बात बिलकुल असंगत और आत्मा के सिद्धांत का प्रचार न करने वाले शास्त्रों के विरुद्ध है. यदि आत्मा का शरीर द्वारा किए कामों से कोई संबंध नहीं तो शरीर द्वारा किए गए बुरे कर्मों के फलस्वरूप आत्मा नीच योनियों में कैसे जाएगी? हिंदू शास्त्रों का मत है कि नीच कर्म करने वाला नीच योनियों में जन्म लेता है और अच्छे कर्म करने वाला ऊंची योनियों में. जब सारे ही कर्म शरीर द्वारा होते हैं और शरीर मृत्यु के बाद नष्ट हो जाता है तो फिर पुनर्जन्म किस का? शास्त्रों के मुताबिक तो इस जन्ममरण के चक्र में आत्मा घूमती है. यदि आत्मा का शरीर द्वारा किए अच्छेबुरे कर्मों से कोई संबंध नहीं तो फिर आत्मा को शरीर द्वारा किए गए अच्छेबुरे कर्मों के परिणाम स्वरूप ऊंचीनीची योनियों में जन्म क्यों लेना पड़ता है?

हिंदू शास्त्रों का मत

यदि आत्मा का किसी शारीरिक काम से कोई वास्ता नहीं, कोई लेनदेन नहीं

तो फिर इस वृथा चीज की जरूरत ही क्या है? और इस का अस्तित्व सिद्ध भी कैसे किया जा सकता है?

गीता (13-33) में लिखा है कि जैसे एक ही सूर्य सारे जगत को प्रकाशित करता है वैसे एक ही आत्मा सारे शरीरों को प्रकाशित करती है.

इस पर मैं ने लिखा था कि गीता का यह कथन बिलकुल गलत है, क्योंकि सभी इनसानों की क्रियाएं, रुचियां और इच्छाएं समान नहीं होतीं.

इस पर आक्षेप करते हुए एक पाठक ने लिखा है कि जिस तरह छोटी से छोटी वस्तु से ले कर बड़ी से बड़ी वस्तु में आकाश का अस्तित्व होने पर भी आकाश (जिसे सभी नीला आकाश कहते हैं) की अनेकता व इस का खंडित होना सिद्ध नहीं होता, उसी तरह सब छोटेबड़े प्राणियों में आत्मा के होने पर भी उस की अनेकता और उस का खंडित होना सिद्ध नहीं होता. अतः गीता का कथन बिलकुल ठीक है.

पाठक महोदय का उपर्युक्त कथन आत्मा के एक होने को सिद्ध नहीं करता, बल्कि इस बात को सिद्ध करता है कि उन को दर्शन शास्त्र का प्रारंभिक ज्ञान भी नहीं है. उन्होंने नीले रंग के आकाश के सब चीजों में व्याप्त होने की जो बात कही हैं, उस का सब जगहों पर व्याप्त रहने वाले दार्शनिकों के आकाश से दूर का भी संबंध नहीं है. उन्हें शायद यह मालूम नहीं कि दार्शनिकों का आकाश एक बहुत सूक्ष्म पदार्थ है, जिसे पाठक महोदय ने अपने अज्ञान के कारण आम बोलचाल वाला आकाश समझ लिया है.

दूसरे, कोई बात सिर्फ कह देने से या सिर्फ उदाहरण दे देने से सिद्ध नहीं होती. जब तक आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, तब तक उस की सर्वव्यापकता की तुलना सूर्य के प्रकाश से की जाए या आकाश के अस्तित्व से, इस से कुछ सिद्ध नहीं होता. किस आधार पर यह कहा जा रहा है कि एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है? इस के लिए क्या प्रमाण है? सिर्फ उदाहरण दे कर ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है. फिर तो सिर्फ यह उदाहरण दे कर कि 'जैसे एक कुम्हार दुनिया के सारे घड़ों में व्याप्त नहीं हो सकता, वैसे एक ही आत्मा सब में व्याप्त नहीं हो सकती,' यह सिद्ध किया जा सकता है कि एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त नहीं है.

एक ही तत्त्व सर्वव्यापक

एक बात और, सर्वव्यापक का अर्थ है सब स्थानों पर व्याप्त अर्थात ऐसी कोई भी जगह नहीं, जहां वह न हो. दुनिया में यदि कोई सर्वव्यापक तत्त्व मान लिया जाए तो भी एक ही तत्त्व सर्वव्यापक हो सकता है. प्रायः परमात्मा को सर्वव्यापक कहा गया है. अगर वास्तव में वह सर्वव्यापक है तो और कोई दूसरा तत्त्व सर्वव्यापक नहीं हो सकता. दूसरा कोई तत्त्व तो तब सर्वव्यापक हो सकता है यदि

कोई जगह खाली हो. ऐसे में आत्मा के सर्वव्यापक होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता. आत्मा को सर्वव्यापक मानने वाले लोगों को या तो यह मानना होगा कि परमात्मा सर्वव्यापक नहीं है या फिर आत्मा सर्वव्यापक नहीं है. दोनों सर्वव्यापक नहीं रह सकते.

यदि आत्मा को सर्वव्यापक माना जाए तो फिर आत्मा किसी शरीर से निकल कर दूसरी जगह नहीं जा सकती. तब उसे लाश में भी रहना होगा, क्योंकि सर्व में लाश भी आती है. ऐसे में आत्मा के मुर्दा व्यक्ति में भी रहने के कारण किसी की 'मौत' नहीं हो सकती. लेकिन वास्तविकता यह है कि व्यक्ति की मृत्यु होती है और शास्त्र यह भी चिल्लाते हैं कि आत्मा एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है. ऐसे में आत्मा अगर हो भी तो वह सर्वव्यापक सिद्ध नहीं होती.

मैं ने लिखा था कि गीता में जीव और ब्रह्म को एक ही चीज बताया गया है, लेकिन जीव में वे गुण नहीं मिलते जो परमात्मा में बताए जाते हैं.

इस पर एक पाठक ने लिखा है कि गीता के 9-19 और 7-12 श्लोक इस आक्षेप का जवाब देते हैं. मैं ने ये दोनों श्लोक पढ़े हैं, लेकिन उन में ऐसा कुछ भी नहीं जो हमारे पूर्वोक्त कथन का समाधान कर सके. वहां तो केवल यह लिखा है कि 'मैं ही तपता हुआ सूर्य हूं, मैं ही वर्षा को आकर्षित करता हूं, मैं ही अमृत, मृत्यु, सत और असत हूं.' क्या इस परस्पर विरोधी कथन से यह सिद्ध हो सकता है कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं? क्या वर्षा कोई जीव लाता है? जिन प्रदेशों में बहुत समय तक वर्षा नहीं होती और लोग पानी व अनाज की कमी के कारण तड़पतड़प कर मरते हैं, क्या वहां वह आत्मा नहीं होती जो वर्षा को आकर्षित करती है?

'तपता हुआ सूर्य मैं हूं–' यह कहने का क्या अर्थ है? जिन बर्फानी इलाकों में हफ्तों बर्फ पड़ती रहती है और लोग सूर्य की किरण देखने को तरस जाते हैं, क्या वहां रहने वाले जीव में वह सर्वव्यापक आत्मा नहीं होती, जो यह कहती है कि तपता हुआ सूर्य मैं ही हूं? आत्मा और परमात्मा को अमृत, मृत्यु, सत और असत कहना निरा पागलपन है. जो वस्तु सत है, जिस का भाव है, जिस का अस्तित्व है, वह असत नहीं हो सकती. उस का अभाव नहीं हो सकता. यदि आत्मा और परमात्मा सत हैं तो वे असत नहीं हो सकते. फिर पाठक महोदय द्वारा उद्धृत गीता के श्लोकों का क्या करें जो एक ही सांस में एक ही चीज को सत और असत एवं अमृत और मृत कहे जा रहे हैं?

बड़ी हैरानी की बात है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों को सिद्ध करने की कोशिश में पाठक महोदय आत्मा और परमात्मा को असत कह कर स्वयं उन के अस्तित्व को ही नकार गए हैं.

मैं ने लिखा था कि मरते समय हिंदू को 'ईश्वर' और मुसलमान को 'खुदा' ही क्यों दिखाई देता है. यदि परमात्मा नामक कोई तत्त्व है तो भिन्नभिन्न

मतावलंबियों को वह एक सा क्यों नहीं दिखाई देता? इस पर एक पाठक ने लिखा है कि जिस की जैसी श्रद्धा व भावना होती है, उस को वैसा ही ईश्वर दिखाई देता है. उस ने मुझ पर दोष लगाया है कि मैं ने ईश्वर को सांप्रदायिक बना दिया है.

मैं ने न तो मुसलमानों के खुदा को सांप्रदायिक बनाया है और न हिंदुओं के ईश्वर को. इन को तो पहले ही लोगों ने सांप्रदायिक बना रखा है. यदि ईश्वर है तो वह अपने भक्त को ही क्यों सांप्रदायिक विचार देता है? जब यह माना जाता है कि सब कुछ परमात्मा (?) की देन है, तब वह हिंदू को खुदा की पूजा करना क्यों नही सिखाता? उम्र भर जो परमात्मा को पाने का ढोंग रचते रहते हैं, वे भी कोरे के कोरे ही मर जाते हैं और यह कहा भी जाता है कि उस को किसी ने नहीं पाया. फिर भावना और ज्ञान की यहां क्या तुक?

एक पाठक ने तुलसी की पंक्तियां उद्धृत करते हुए लिखा है कि जिस की जैसी भावना होती है, उसे वैसे ही ईश्वर के दर्शन होते हैं. मुसलमान को उस की भावना के मुताबिक खुदा के और हिंदू को उस की भावना के मुताबिक परमात्मा के दर्शन होते हैं.

यह बात सही नहीं. इस से तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर नाम का कोई निश्चित तत्त्व नहीं. इसलिए वह प्रत्येक को अलगअलग रूप में दिखाई देता है. जो वास्तविक चीज होती है, वह भावना के मुताबिक परिवर्तित रूपों में दिखाई नहीं देती. यह नहीं होता कि पत्थर का टुकड़ा किसी को उस की भावना के मुताबिक साइकिल का टायर दिखाई दे और किसी को टेरामाइसीन का कैप्सूल. अतः यह मानना ही होगा कि हिंदू को दिखाई देने वाला ईश्वर, मुसलमान को दिखाई देने वाला खुदा और ईसाई को दिखाई देने वाला गाड मन की कल्पना के सिवा और कुछ नहीं.

एक पाठक महोदय की यह दलील है कि जब हम 'मैं,' 'मेरी,' 'मेरा' आदि कहते हैं तो यह 'मैं' और 'मेरा' आत्मा ही होती है.

आध्यात्मिक हथकंडा

आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने की यह कोई दलील नहीं है. यह तो हमारी भाषा का एक साधारण सा प्रयोग है. यदि 'मैं,' 'मेरी' से आत्मा का होना सिद्ध होता है तो 'मेरी आत्मा' आदि में 'मेरी' से क्या सिद्ध होता है? कहा जाता है कि 'मेरी आत्मा नहीं मानती' या 'मेरी आत्मा ऐसा करने की इजाजत नहीं देती.' इस वाक्य का यह अर्थ नहीं कि इस कथन के पीछे कोई 'आत्मा' काम कर रही है, बल्कि यह कहने का एक तरीका है जिस से दर्शन विशेष को सिद्ध नहीं किया जा सकता.

एक आक्षेपकर्ता का कथन है कि "आत्मा सर्वत्र व्याप्त है. उस के सान्निध्य में आया हुआ प्रत्येक तत्त्व उस से भासित होता है व जीवित हुआ प्रतीत होता है." मेरा निवेदन है कि अगर आत्मा सर्वत्र व्याप्त है तो फिर मृतक के शरीर में भी जरूर होनी चाहिए और उसे चलतेफिरते दिखना चाहिए. पर ऐसा होता नहीं. मृतक

में चेतना समाप्त हो जाती है, उस की मशीनरी काम करना बंद कर देती है, और और वह मर जाता है. यह एक वैज्ञानिक तथ्य है. शरीर में आत्मा को मानना कुछ अध्यात्मवादियों का लोगों को ठगने का एक आध्यात्मिक हथकंडा मात्र है.

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कुछेक ग्रंथों के उद्धरण उस के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते. इन ग्रंथों में तो और भी बहुत सा कूड़ाकरकट लिखा हुआ है जो आत्मा और पुनर्जन्म के चक्र की तरह लोगों को और भी बहुत से चक्रों में डाल देता है. इन चक्रों के जाल से मुक्त होने वाला ही बुद्धिजीवी की संज्ञा प्राप्त करता है न कि इन चक्रों में फंसा व भेड़चाल अपनाने वाला.

एक आलोचक का कहना है कि "अगर सोमा सबलोक नास्तिक हैं तो उन का यह लेख पूर्णतया ठीक है."

कैसा आश्चर्य है कि जो सत्य में विश्वास रखता है उसे ये भेड़चाल अपनाने वाले लोग नास्तिक कह कर घृणा की दृष्टि से देखते हैं. वास्तव में इन्हें आस्तिक का अर्थ ही नहीं मालूम. आस्तिक का अर्थ है जो अस्ति (जो है) में विश्वास करे. दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष दिखने वाली चीज में जो विश्वास करे, वह आस्तिक है. नास्तिक वह है जो न अस्ति (जो नहीं है) में विश्वास करे. इस प्रकार भौतिक चीज में विश्वास करने वाला आस्तिक हुआ और आत्मा जैसी अस्तित्वहीन चीज में विश्वास करने वाला नास्तिक.

एक आक्षेपकर्ता का कहना है कि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश को पकड़ कर नहीं दिखाया जा सकता, उसी प्रकार आत्मा को भी नहीं दिखाया जा सकता.

यह कैसी तर्कहीन बात है. सूर्य एक भौतिक पदार्थ है और वह प्रत्यक्ष रूप में दिखता है. उस का प्रकाश किसी चीज पर पड़े या न पड़े, उस के बिना ही वह दिख जाता है. जब सूर्य उदय होता है वह लाली में होता है, दोपहर के वक्त स्वर्ण रंग का होता है और अस्त होने के वक्त फिर लाल रंग का. इस प्रकार यह भौतिक पदार्थ तो विभिन्न रूपों में दिखाई देता है. क्या आत्मा कही जाने वाली अभौतिक चीज इस प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई देती है? नहीं, तो फिर यह मानना मूर्खतापूर्ण हठ है कि सूर्य का प्रकाश और आत्मा एक ही कोटि की वस्तुएं हैं.

कर्मों का फल

एक अन्य आक्षेपकर्ता का कहना है कि मनुष्य जिंदगी में उत्तरोत्तर जैसेजैसे और जिस प्रकार के काम करता जाता है, उसी प्रकार उन का फल जीवन में भोग लेता है और जो काम जीवन के अंतिम पहर में करता है, वह मृत्यु के उपरांत भोगने के लिए दोबारा जन्म लेता है.

यह बात सही नहीं. जीवन में यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक को उस के कर्मों का फल मिलता ही हो. धनी सेठ अपने विरोधियों को किराए के गुंडों के हाथों मरवा देते हैं और उन को अपने इस जघन्य कुकर्म के फलस्वरूप न कैद होती है और

न जुरमाना. वे किराए के गुंडे भी बहुत बार सजा से बच निकलते हैं. जिस तरह इन लोगों को अपने कर्मों का फल नहीं मिलता ऐसे और भी बहुत से अवसर होते हैं, जहां कर्मफल का सिद्धांत फेल हो जाता है. ऐसे ही यदि मृत्यु के समय किए किसी कर्म का फल किसी को नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं. मृत्यु के समय किए कर्मों के फलों के लिए मृत्यु के बाद दोबारा जन्म लेने की बात बिलकुल बेबुनियाद कल्पना है. जब तक ठोस प्रमाणों से पुनर्जन्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता तब तक यह कहना कि मृत्यु के बाद कर्मों का फल भोगना पड़ता है, बिलकुल थोथी बात है.

एक आक्षेपकर्ता का कहना है कि यदि पुनर्जन्म न होता तो कभी भी पाप करने से कोई भी न डरता.

उक्त तर्क को गलत और बेबुनियाद सिद्ध करने के लिए आधुनिक समाज एक ज्वलंत प्रमाण है. भारत में 85 प्रतिशत हिंदू जनसंख्या पुनर्जन्म को मानती है, लेकिन इस पुनर्जन्म ने कितने लोगों को पापों से बचाया है? चोरियां, डाके, आर्थिक अपराध, बलात्कार, हरिजनों पर योजनाबद्ध आक्रमण, बनावटी दवाइयां, खाद्य पदार्थों में मिलावट और रिश्वतखोरी ये सब अपराध क्या भारत में नहीं हो रहे? यदि अदालतों, पुलिस (जैसी भी है) और जेल का डर न हो तो ये पुनर्जन्म को मानने वाले तथाकथित भय के बावजूद दुनिया का कोई भी संभव अपराध और जघन्य काम करने से बाज न आते, अतः यह कहना सरासर गलत है कि पुनर्जन्म न होता तो लोग पाप करने से न डरते.

पूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण

पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि आजकल बहुत से बच्चों ने अपने पूर्वजन्म की घटनाओं को बताया है.

पर यह भी पुनर्जन्म होने की बात को सिद्ध नहीं करता. पूर्वजन्म (यदि है) की बातों को बताने का फ्राड हमेशा पांच वर्ष से ऊपर के बच्चे द्वारा ही करवाया जाता है, इस से कम की उमर वाले द्वारा नहीं. यदि पूर्वजन्म की घटनाओं के याद होने की बात मान भी ली जाए तो जो स्मृति पांच साल के बाद वाले बच्चे में होगी, वही पहले में भी होगी. यदि पूर्वजन्म की बातों को बताने का कोई अलौकिक चमत्कार बाद में होता है तो वह पांच वर्ष से पहले भी होना चाहिए. बच्चों द्वारा पूर्वजन्म की बताई जाने वाली कहानियों को जितने वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक ढंग से परीक्षण किया, उन सब को निराशा ही हाथ लगी और उन्हें कहना पड़ा कि ऐसी कहानियां मिथ्या और निरा धोखा हैं.

पटना के एक पाठक श्री अरविंद ने लिखा था कि वह एक ऐसे बालक को स्वयं जानते हैं, जो पिछले जन्म का सहीसही हाल बताता है. जब 'सरिता' कार्यालय से उस बालक का नाम, पूरा पता इत्यादि मांगा गया तो उत्तर मिला कि

"मैं ने इस बालक को स्वयं नहीं देखा है, इस के बारे में कल्याण में पढ़ा था. वहीं से इस बारे में पता कर लें."

अब 'कल्याण' तो यह भी छापता है कि खेत में हल चला कर बीज बोने की आवश्यकता नहीं है, केवल खेत में विश्वकर्मा की मूर्ति स्थापित कर दो फसल अपने आप पैदा हो जाएगी. 'कल्याण' की बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?

इसी प्रकार पिछले जन्म की कहानियां कहने वाले बच्चों के सभी किस्से केवल काल्पनिक और धन कमाने के साधन मात्र हैं.

फिर इस प्रकार के किस्सों में बालक का पूर्वजन्म हमेशा भारत में किसी हिंदू परिवार में ही बताया जाता है, जब कि शास्त्रों के अनुसार मनुष्य चौरासी लाख योनियों में जन्ममरण के बाद मानव शरीर धारण करता है. किसी इस प्रकार के बालक ने आज तक यह नहीं कहा कि पिछले जन्म में वह घोड़ा, गधा, सांप, मच्छर, मछली या कौआ था. कारण साफ है. इस से कोई धन की प्राप्ति नहीं होगी, बल्कि लोग मजाक उड़ाएंगे.

यदि यह मान भी लिया जाए कि मनुष्य का पुनर्जन्म मनुष्य शरीर से ही होता है तो क्या यह आवश्यक है कि एक हिंदू का जन्म भारत में अपने आसपास के हिंदू परिवार ही में हो. अमरीका, यूरोप, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया की कोई आत्मा भारत में क्यों नहीं जन्म लेती? किसी अन्य भाषा बोलने वाले मुसलमान, क्रिश्चियन या यहूदी के घर में कोई आत्मा क्यों नहीं आती?

अमरीका के एक खोजी ने अपनी किताब *'स्पिरिट्स, स्टार्स एंड स्पेल्स'* (246-249) में कुछ अंधविश्वासपूर्ण उदाहरणों की पोल खोल कर पूर्वजन्म को एक छल और धोखा सिद्ध किया है.

एक आक्षेपकर्ता का कहना है कि आत्मा तो एक ज्योति है. उस के समक्ष जितने भी शरीर अव्यवहित रूप से आते हैं. उन सभी में आत्मा प्रतिबिंबित हो कर उन्हें जीवन प्रदान करती है.

शरीर का निर्माण कैसे?

परंतु यह भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला कोई ठोस प्रमाण नहीं है. शरीर किसी प्रकार की ज्योति का बना हुआ नहीं है, यह तो छोटेछोटे सेलों (कोशिकाओं) का बना हुआ है और ये सेल आक्सीजन की रासायनिक कार्यप्रणाली की सहायता से सांस लेने और छोड़ने तथा रक्त संचार द्वारा काम करते हैं. सेलों से बने इस शरीर में कोई ज्योति बाहर से नहीं आती, बल्कि इस में जीवनोपयोगी तत्त्व हर समय उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जिस प्रकार जलती हुई मोमबत्ती में हाइड्रोकार्बन के जलने से पैदा होने वाली ताप और प्रकाश ऊर्जाएं विद्यमान रहती हैं. जब मोमबत्ती जलती है, तब हाइड्रोकार्बन के जलने से ताप और प्रकाश ऊर्जाएं पैदा होती हैं. जब मोमबत्ती बुझ जाती है तो ताप और प्रकाश उस

से निकल कर कहीं चले नहीं जाते और न ही ऐसा होता है कि मोमबत्ती को दोबारा जलाने पर वे उस में वापस आ जाते हैं. होता सिर्फ यह है कि मोमबत्ती के बुझने पर रासायनिक प्रक्रिया और ऊर्जा उत्पादन का क्रम टूट जाता है. इसी तरह जब श्वासप्रश्वास और रक्त का संचार टूट जाता है तो आदमी मर जाता है. उस से निकल कर जाता कुछ नहीं.

अगर शरीर बन जाने के बाद उस में कोई तथाकथित आत्मा नामक ज्योति आती है तो उस समय वह उक्त ज्योति कहां थी, जब कि धरती पर मनुष्य शरीर का निर्माण नहीं हुआ था? कैसी बेतुकी सी बात है कि कोई ज्योति अपने आप में अलग चीज है और वह शरीर निर्माण के बाद इस में आती है. क्या किसी विचारक के बिना कोई विचार होता है? या क्या चेतन व्यक्ति के बिना कोई चेतना भी होती है? तो फिर यह कैसे हो सकता है कि शरीर के बनने से पहले ही कोई ज्योति विद्यमान हो, जो शरीर बन जाने पर उस में आ घुसती हो?

अगर कोई आत्मा नामक ज्योति है जो शरीर में आती है तो उस समय यह ज्योति कहां भाग जाती है जब पर्वतारोहियों को आक्सीजन की आवश्यकता पड़ती है और वे पर्वतों पर अपने साथ आक्सीजन बैग ले कर जाते हैं? यदि यह कोई आत्मा नाम की ज्योति है तो फिर मनुष्य केवल उसी ज्योति के सहारे क्यों नहीं जीता? वह आक्सीजन के सहारे क्यों जीता है?

आत्मा नामक ज्योति

दूसरे, जब किसी व्यक्ति को क्लोरोफार्म सुंघाया जाता है तो फिर वह आत्मा नामक तथाकथित ज्योति के विद्यमान रहने पर भी बेहोश क्यों हो जाता है? पोटाशियम सायोनाइड जीभ पर छुआने मात्र से ही वह तथाकथित आत्मा नामक ज्योति क्यों और कहां गायब हो जाती है? इन प्रयोगों से तो यही प्रमाणित होता है कि आत्मा नामक ज्योति की बात बिलकुल आधारहीन और कल्पित है.

एक आक्षेपकर्ता का कहना है कि उपनिषदों में कहीं भी आत्मा का परिमाण नहीं दिया गया है.

इस बात से ऐसा लगता है कि आक्षेपकर्ता ने उपनिषदों को कभी हाथ भी नहीं लगाया और अंधविश्वास के कारण सत्य को ऐसे ही व्यर्थ ढंग से नकारना चाहते हैं, पर सचाई को कभी झुठलाया नहीं जा सकता. कठ उपनिषद् (2-6-17) में साफ लिखा है कि आत्मा अंगुष्ठ मात्र है. श्वेताश्वतर उपनिषद् (5-9) में आत्मा को बाल के सौवें हिस्से के बराबर बताया गया है. छांदोग्य उपनिषद् (3-1-14-2) में आत्मा जौ के एक दाने के बराबर कही गई है. कैसी बेतुकी सी बातें हैं. इन्हें जौ के दाने में, बाल के सौवें हिस्से में और अंगूठे में कोई भिन्नता नजर नहीं आती. इस प्रकार के परिमाण बताने के बाद आत्मा को अमर और निर्विकार आदि वाहियात विशेषणों से युक्त बताने लगे हैं.

यदि आत्मा घटबढ़ कर कभी अंगूठे के बराबर, कभी जौ के दाने के बराबर तथा कभी बाल के सौवें हिस्से के बराबर हो जाती है तो फिर वह निर्विकार कैसी? ऐसे विभिन्न परिमाणों को बताने से तो उस में (यदि है तो) विकार आ जाता है. इस प्रकार के परस्पर विरोधी मत भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करने देते.

एक आक्षेप है कि आत्मा कभी नहीं मरती. वह तो शरीर को इस तरह बदलती रहती है, जिस तरह हम अपना वस्त्र बदलते हैं.

इस कथन से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता. साथ ही कहते हैं कि आत्मा देह में निवास करती है. जब देह नष्ट हो जाती है तो देह में रहने वाली चीज कैसे नष्ट नहीं होती? यह भी कितनी बेतुकी सी बात है कि देह के मर जाने के बाद आत्मा उड़ जाती है, वह एक शरीर रूपी वस्त्र को छोड़ कर दूसरा वस्त्र धारण कर लेती है.

सचाई तो यह है कि मनुष्य का शरीर करोड़ों कोशिकाओं से बना हुआ है. ये कोशिकाएं बनती और नष्ट होती रहती हैं. हर रोज जितनी बार ये कोशिकाएं मरती हैं, उतनी बार आदमी मरता रहता है, और वह तब तक मरता रहता है जब तक कि सारी की सारी कोशिकाएं मर नहीं जातीं. तब क्या यह माना जाए कि आत्मा तब वस्त्र बदलती है जब शरीर में कोई भी कोशिका नहीं रहती या शरीर में बारबार और नित्य कोशिकाओं के नष्ट होने पर वस्त्र धारण करती रहती है? परंतु नहीं. आत्मा की बात तो एक भ्रम है जो व्यर्थ में मनुष्य को अपने में उलझाए हुए है. इस भ्रम से आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता.

यदि सचमुच ही कोई आत्मा है तो उस का अधिकांश उस समय जरूर बच जाता होगा, जिस समय कोशिकाएं नष्ट होती रहती हैं और कोशिकाओं के नष्ट होने तथा नई बनने में उत्तरोत्तर आत्मा घटती और बढ़ती रहती होगी. इस प्रकार इस के घटने और बढ़ने के कारण इस अजर, अमर और निर्विकार नहीं कहा जा सकता.

क्या आत्माएं करोड़ों हैं?

मानव या किसी भी जीवधारी की कोशिकाएं उस के शरीर के बाहर भी कुछ समय तक जीवित रखी जा सकती हैं, क्योंकि हर प्राणी में आत्मा का व्याप्त होना माना जाता है, और ये कोशिकाएं अलगअलग हैं तो क्या एक शरीर में करोड़ों आत्माएं हैं? या इन में से कोई संपूर्ण शरीर की आत्मा है?

प्राणियों का जन्म मादा के अंडे और नर के वीर्य के शुक्राणु के मिलने से होता है. वीर्य की एक बूंद में करोड़ों शुक्राणु होते हैं और जब इन में कोई एक मादा के अंडे में घुस जाता है तो गर्भाधान हो जाता है. जहां एक से अधिक शुक्राणु घुसते हैं वहां जुड़वा बच्चे होते हैं, शुक्राणुओं की संख्या के अनुसार.

इस बात से यह भी साबित होता है कि बच्चे की आत्मा तो पिता के शरीर में गर्भाधान से पहले ही शुक्राणु के रूप में होती है. बच्चे की आत्मा का अन्यत्र

कोई अस्तित्व नहीं होता. इस प्रकार यदि एक प्राणी की एक आत्मा मानी जाए तो वह विभाजित कैसे हो गई? और अगर हर शुक्राणु की अलग आत्मा है तो एक शरीर में करोड़ों आत्माएं कैसे?

एक आक्षेपकर्ता का कहना है कि आत्मा के समान पुनर्जन्म सिद्धांत भी सत्य है. उस ने लिखा है कि स्थूल देह का नाश हो जाता है. किंतु सूक्ष्म देह फिर भी नष्ट नहीं होती. यह सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि व ज्ञानेंद्रियों आदि का समूह होता है जिस में कर्मों के संस्कार सूक्ष्म रूप से निहित होते हैं तथा इन्हीं कर्मों के आधार पर दूसरा जन्म होता है.

क्या सुंदर प्रत्ययवादी रटेरटाए शब्दों का जाल है, जिस में पाठक को उलझा कर यह सिद्ध करने की नाकाम कोशिश की गई है कि कर्मों के आधार पर पुनर्जन्म होता है.

पुनर्जन्म के घिसेपिटे सिद्धांत को मानने वाले क्या इस बात का युक्तियुक्त उत्तर दे सकते हैं कि मनुष्य, पशुपक्षी आदि के चेतन शरीर तो अपनेअपने पूर्वजों से बनते हैं, और जैसे उन के शारीरिक व मानसिक गुण होते हैं वैसे ही उन में भी वंशपरंपरानुक्रम से स्वयं ही आ जाते हैं? फिर इस के लिए एक अलग आत्मा की कल्पना करने की क्या जरूरत है? यदि आत्मा अलग कहीं से आ कर उन में प्रवेश करती है तो फिर लकड़ी, लोहे आदि की बनी हुई चीजों में भी क्यों नहीं आती?

चौरासी लाख योनियों का भ्रमण

यदि यह कहा जाए कि पूर्व कर्मानुसार उन में आ कर उन का पुनर्जन्म करती है तो क्या कारण है कि सजीव सृष्टि की कथित चौरासी लाख योनियों में तो भ्रमण करने का उस से कर्म बन गया, परंतु लोहे आदि की बनी वस्तुओं में प्रवेश करने का उस से कोई कर्म न बन पड़ा? साथ ही आदिम कर्म का भी वे कोई कारण नहीं बता सकते कि सब से पहला कर्म जिस से उत्तरोत्तर कर्मों की शृंखला बनी, कब, क्यों और कैसे पैदा हुआ? कर्म को आत्मा की तरह अनादि भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे ही लोगों की परिभाषानुसार 'कर्म वह है जो किया जाए'. जब समयसमय पर कर्म किया गया तो वह अनादि कैसा?

दूसरे, सूक्ष्म शरीर जो नष्ट नहीं होता, एक कल्पनात्मक शरीर है, जिसे आत्मा की ही तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता. जब आत्मा ही सिद्ध नहीं होती तब उस की तरह के एक और काल्पनिक तत्त्व से किसी किनारे कैसे पहुंचा जा सकता है? एक काल्पनिक तत्त्व को सिद्ध करने में दूसरा एक और काल्पनिक तत्त्व कैसे सहायक सिद्ध हो सकता है?

कुछ लोगों ने अथर्ववेद (5-1-1-2) और ऋग्वेद (1-164-20) के हवाले से लिखा है कि आत्मा नाम का तत्त्व है और पुनर्जन्म होता है, इसलिए ये दोनों चीजें माननी चाहिए.

शास्त्रों की दासता

किसी बात को किसी वेद या शास्त्र में लिखी होने मात्र से सिर्फ वे ही लोग सही स्वीकार कर सकते हैं, जो शास्त्रों की दासता से मुक्त नहीं हैं और जिन्हें यह भ्रम है कि इन शास्त्रों को ईश्वर ने बना कर भारत के लोगों के लिए ऊपर से फेंका है. जब तक कोई बात वैज्ञानिक ढंग से सही सिद्ध नहीं होती, तब तक केवल शास्त्रों में लिखी मात्र होने से उसे हम सही मानने को तैयार नहीं. ऐसे शास्त्रों में और बहुत सा कूड़ाकरकट भरा पड़ा है, जिस सब को अर्धसभ्य और असभ्य लोग ही स्वीकार कर सकते हैं.

कुछ लोगों ने लिखा है कि आत्मा को न मानने से भौतिकवाद के कारण यौन संबंधों के क्षेत्र में अराजकता फैल जाएगी.

यह बात केवल वही व्यक्ति कह और स्वीकार कर सकता है, जिसे आत्मा का अस्तित्व मानने वालों का इतिहास ज्ञात न हो. ऋग्वेद के यमयमी सूक्त में आत्मा का अस्तित्व मानने वाले भाईबहिन का संवाद मिलता है, जिस में बहिन भाई को संभोग के लिए आग्रहपूर्वक तैयार कर रही है. पुराणों में आता है कि शिवजी ने अपनी माता से विवाह किया. ऋग्वेद में आता है कि पिता ने पुत्री को गर्भवती कर दिया. पुराणों में आता है कि चंद्रमा ने अपने गुरु की पत्नी से व्यभिचार किया. दशरथ जातक का राम अपनी बहिन सीता से विवाह करता है. स्वामी दयानंद ने बताया कि वेदों की आज्ञा है कि एक स्त्री संतान उत्पत्ति के लिए ग्यारह पुरुषों के पास जा सकती है और प्रत्येक पुरुष से अन्य ग्यारह पुरुषों के पास जाने की आज्ञा ले सकती है.

अतः यह कहना कि आत्मा के अस्तित्व को न मानने से अव्यवस्था फैल जाएगी, बिलकुल गलत बात है. भौतिकवादी लोग इतने नीचे स्तर पर नहीं आते जितने नीचे स्तर पर आत्मा को निर्लिप्त और अमर मानने वाले उतर आते हैं.

एक आक्षेपकर्ता ने कहा कि 'सब्बासकसुत्त' का जो उद्धरण मैं ने दिया है, उस के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि उस में आया है कि आत्मा को मानने वाला व्यक्ति जन्ममरण के चक्र से नहीं छूटता.

मनोवैज्ञानिक पुनर्जन्म

यह आक्षेप निराधार और बुद्ध के सिद्धांत को न समझने का परिणाम है. आत्मा को मानने वाला व्यक्ति 'जन्ममरण के चक्र से नहीं छूटता' का अर्थ यह नहीं कि एक व्यक्ति जन्म ले कर दोबारा मरता है और दोबारा जन्मता है, बल्कि इस का अर्थ यह है कि ऐसा व्यक्ति मनोवैज्ञानिक तौर पर बारबार जन्म लेने और मरने के विचार से तंग रहता है, और अशांति से जीवन बसर करता है. बुद्ध का मतलब यह नहीं था कि आत्मा मानने वाले व्यक्ति का बारबार जन्म होता है और बारबार मृत्यु. बुद्ध ने छुटकारे के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग किया है, और वह

निर्वाण मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाली कोई चीज नहीं. निर्वाण का अर्थ सिर्फ अष्टांगिक मार्ग पर चलते हुए रागद्वेष से ऊपर उठना है. यह सब कुछ जीवित व्यक्ति से संबंधित है न कि मृत्यु के उपरांत कल्पित आत्मा से. (देखें: बुद्ध एंड हिज धम्म, लेखक डा. भीमराव अंबेडकर)

स्पष्ट है कि आत्मा पुनर्जन्म के अस्तित्व को किसी प्रकार से सिद्ध नहीं किया जा सकता.

(यह लेख सरिता के अप्रैल (द्वितीय) 1978 अंक में प्रकाशित हुआ था.)

हिंदू कौन?

हिंदू होने के लिए यह जरूरी नहीं कि व्यक्ति किसी एक पुस्तक या सिद्धांत को अवश्य माने. सांख्य दर्शन ईश्वर को न मानते हुए भी हिंदू है. न्याय दर्शन आत्मा और परमात्मा को अलगअलग मानते हुए भी हिंदू है. वेदांत आत्मा और परमात्मा को एक मानते हुए भी हिंदू है. इस के विपरीत चार्वाक आत्मा और परमात्मा दोनों को न मानते हुए भी हिंदू है. आर्यसमाज 18 पुराणों और बहुत सी स्मृतियों को न मानने पर भी हिंदू है. शैव विष्णु को न मानते हुए भी हिंदू हैं तथा वैष्णव शिव को न मानने पर भी हिंदू हैं. आत्मा को नाशवान तथा पुनर्जन्म को न मानने वाला देव समाज भी हिंदू है. इसीलिए डा. राधाकृष्णन ने लिखा है, "हिंदू धर्म कोई निश्चित धर्ममत नहीं है बल्कि आध्यात्मिक विचारों और साधनाओं का विशाल और विविध तत्व समन्वित पर सूक्ष्मता से एकीभूत पुंज है." (हिंदुओं का जीवन दर्शन, पृ.18)

लगभग यही बात सुप्रीम कोर्ट भी मान चुका है. विश्व हिंदू परिषद के सम्मेलन में केरल के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री वी.पी. गोपालन नंबयार ने नवंबर 1978 में बोलते हुए कहा था कि सुप्रीम कोर्ट का मत है, "हिंदू किसी एक परमात्मा को नहीं पूजते. वे किसी एक दार्शनिक विचारधारा को नहीं मानते और न ही सब के एक तरह के विधिविधान हैं. अत: कहा जा सकता है कि हिंदू धर्म जीवन पद्धति है और कुछ नहीं." (दी ट्रिब्यून, 16 नवंबर, 1978)

भारतीय संविधान के मुख्य निर्माता डा. भीमराव अंबेडकर ने अपनी पुस्तक 'बुद्ध एंड हिज धम्म' (हिंदी अनुवाद, पृ. 22) में लिखा है, "आज तक किसी ने भी न तो 'आत्मा' को देखा है और न उस से बातचीत की है. आत्मा अज्ञात है, अदृश्य है. जो चीज वास्तव में है वह मन या चित्त है, 'आत्मा' नहीं, मन 'आत्मा' से भिन्न है. तथागत ने कहा, 'आत्मा' में विश्वास करना अनुपयोगी है. इसलिए जो धर्म 'आत्मा' पर आश्रित है, वह अपनाने योग्य नहीं है. ऐसा धर्म केवल मिथ्या विश्वास का जनक है."

'सत्य की खोज' नामक पुस्तक में पारसनाथ सहाय, दर्शन रिसर्च स्कालर ने

(पृ. 124) पर लिखा है, "आत्मा नित्य है और शरीर नाशवान है– कहने की परिपाटी सी हो गई है परंतु इस सिद्धांत के समर्थन के कुछ भी ठोस प्रमाण नहीं है. आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं है."

परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी भगवदाचार्य ने अपनी पुस्तक 'ब्रह्मदर्शनम्' (द्वितीय भाग) की भूमिका, (पृ. 49) में आत्मा और पुनर्जन्म का स्पष्ट खंडन करते हुए लिखा है, "मन के अतिरिक्त कोई जीवात्मा नहीं. मन भौतिक होने तथा देहावयव होने से देह के साथ ही नष्ट हो जाता है, तब पुनर्जन्म किस का? जन्मों का हेतु कर्म है, यह भी एक अवास्तविक कल्पना है. जन्म विसर्गत होता ही रहता है. जन्म का हेतु पापपुण्य और कर्म नहीं, प्रत्युत शुद्ध रजोवीर्य हेतु है."

भारत के चमत्कारी धर्म गुरुओं से जीवन भर टक्कर लेने वाले वैज्ञानिक डा. इब्राहिम टी. कोवूर ने अपनी पुस्तक 'बेगन गौडमेन' के (पृ. 38) में लिखा है, "जीवन और मन का मिश्रण ही तथाकथित आत्मा है क्योंकि जीवन और मन शरीर के बिना नहीं रह सकते. अतः अजरअमर आत्मा की बातें करना व्यर्थ है. गौतम को यह सचाई पता थी. इसलिए उन्होंने 2500 वर्ष पहले अनात्मवाद का प्रचार किया."

सर्वदर्शन संग्रह (चार्वाक दर्शन प्रकरण), नैषध महाकाव्य (सर्ग 17) और बुद्ध चरित (सर्ग 16) में न्याय दर्शन के पूर्व पक्ष में आत्मा और पुनर्जन्म का खंडन किया गया है.

सर्जरी की नवीन खोजों ने भी आत्मा के न होने को सिद्ध किया है. 1976 में पैरंबूर रेलवे अस्पताल मद्रास (चेन्नई) के डायरेक्टर टी. जे. चेरीयन और सर्जन के. एम. चेरीयन ने बच्चों के ओपन हार्ट सर्जरी के द्वारा जो आपरेशन किए हैं, वे आत्मा के न होने के मुंह बोलते प्रमाण हैं. इस ढंग की सर्जरी का विकास 1967 में जानवरों के हृदयों का आपरेशन कर के जापान में किया गया था और इनसानों पर इस विधि का पहलेपहल सफल प्रयोग न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया में किया गया. इस विधि के अनुसार बच्चे के शरीर से रक्त की अंतिम बूंद तक निकाल ली जाती है और इस रक्त को एक हार्टलंग मशीन में रखा जाता है. रक्त निकालते समय शरीर का तापमान सामान्य 37° से कम कर के 18° सेंटीग्रेड पर लाया जाता है. बच्चे का शरीर मृतप्राय पड़ा रहता है. इस बीच डाक्टर हृदय के वाल्व की खराबी दूर कर देते हैं. इस के बाद हृदय फिट कर के रक्त फिर शरीर में डाल दिया जाता है. कुछ मिनटों के बाद रक्त शरीर में चलना शुरू हो जाता है और इनसान जी उठता है. (देखें–वीर प्रताप 15/3/1976)

आत्मा और पुनर्जन्म संबंधी किसी एक वर्ग के विचारों को धर्म निरपेक्ष संविधान के तहत कानूनन मान्यता देना दूसरे सब वर्गों की वैचारिक, दार्शनिक और धार्मिक स्वतंत्रता का अपहरण है.

यह एक ऐसा विषय है कि जिस में किसी एक पक्ष को सरकारी तौर पर

समर्थन देना धर्मनिरपेक्षता का मजाक उड़ाना होगा क्योंकि यदि आत्मा और पुनर्जन्म का खंडन करने से इन्हें मानने वालों को ठेस पहुंचती है तो इस का मंडन करने से इन्हें न मानने वालों को भी तो ठेस पहुंचती है. यह देश सिर्फ उन्हीं लोगों का नहीं जो आत्मा और पुनर्जन्म को मानते हैं बल्कि ईसाइयों, मुसलमानों, बौद्धों, बुद्धिवादियों, चार्वाकों और दूसरे लोगों का भी है जो अजरअमर आत्मा और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते.

लेख लिखने का उद्देश्य

'आत्मा और पुनर्जन्म' दूसरे और बहुत से विषयों की तरह एक बहुचर्चित विषय है. जब से मानव ने चिंतन आरंभ किया है तभी से सृष्टि, इस की उत्पत्ति, मैं क्या हूं? मृत्यु के बाद क्या होता है?– आदि मानव के चिंतन के विषय रहे हैं, यहां तक कि ये विषय मनुष्य को तब भी दरपेश आए जब वह महज जंगली था. पर इन प्रश्नों के समाधान अलगअलग समय और देशों में अलगअलग पाए जाते हैं. जंगली अवस्था में मनुष्य के पास भौतिक जगत विषयक ज्ञान अपेक्षाकृत रूप में बहुत कम था. ज्योंज्यों यह ज्ञान बढ़ता गया और मानव उन्नति करता गया त्योंत्यों अनेक समाधान पूर्वकाल के समाधानों की अपेक्षा ज्यादा परिष्कृत और संशोधित होते गए.

हर युग के समाधान उत्तरोत्तर पीढ़ियों को बपौती में मिलते रहे. उन पीढ़ियों ने दान में प्राप्त उन समाधानों का परीक्षण किया और जहां उन्हें त्रुटि दृष्टिगोचर हुई, उसे सुधारने के लिए कहीं उन्होंने परिवर्तन किया, कहीं परिवर्धन किया तो कहीं खंडन और कहीं मंडन. यदि यह क्रम न चलता, यदि परंपरागत मान्यताओं, विश्वासों, उप कल्पनाओं को अंधाधुंध स्वीकार कर लिया जाता तो आज जहां मानव सभ्यता पहुंची है वहां न पहुंच पाती, आदि काल में जो क ख मानव ने सीखा होता वही आज उस के पल्ले होता.

आज का सारा ज्ञानविज्ञान पूर्ववर्ती ज्ञानविज्ञान के आलोचनात्मक मूल्यांकन का ही परिणाम है. इस आलोचनात्मक मूल्यांकन के अभाव में मानव और पशु में कोई अंतर नहीं रह जाता.

सार्वभौमिक विषयों के संबंध में आदिम युग से ले कर आज तक जितना भिन्नभिन्न युगों का, ज्ञानविज्ञान हमें ज्ञात है, उस पर आपाततः दृक्पात करने से स्पष्ट हो जाएगा कि इन के समाधान भिन्नभिन्न युगों और देशों में कितने उपहासास्पद, अंधविश्वासपूर्ण और साधारण बुद्धि के विरुद्ध थे. उन का अधिकांश ज्ञान बुझक्कड़ी समाधानों के अतिरिक्त और कुछ नहीं. इसी से उन की वर्तमान के संदर्भ में उपयोगिता, उपादेयता और उपयुक्तता का मूल्यांकन किया जा सकता है.

कोई चीज सिर्फ इसलिए उपयुक्त व श्रद्धास्पद नहीं कि वह प्राचीन काल से

चली आ रही है या किसी तथाकथित भगवान के प्रतिनिधि द्वारा प्रचारित की गई है या शास्त्र व धर्मग्रंथ के नाम से जानी जाने वाली प्राचीन व अर्वाचीन पुस्तक में लिखी हुई है. इस विषय में 20 वीं सदी के एक प्रसिद्ध धार्मिक विद्वान स्वामी रामतीर्थ के निम्नलिखित विचार विशेषतौर पर स्मरणीय हैं–

Accept not a religion because it is the oldest, its being the oldest is no proof of its being the true one. Sometimes the oldest houses ought to be pulled down and the oldest clothes must be changed. The latest innovation, if it can stand the test of reason, is as good as the fresh rose bedecked with sparkling dew. Accept not a religion because it is the latest. The latest things are not always the best, not having good the test of time. Accept not a religion on the ground of its being belived in by a vast majority of mankind, because the vast majority of mankind believes practically in the religion of Satan; in the religion of ignorance. There was a time when the vast majority of mankind believed in slavery, but that could be no proof of slavery being a proper instillation. Believe not in a religion on the ground of its being believed in by chosen few. Sometimes the small minority that accepts a religion in darkness, misled. Accept not a religion because it comes from a great ascetic, from a man who has renounced everything; because we see that there are many ascetics, men who have renounced everything, and yet they know nothing, they are veritable fanatics. Accept not a religion because it comes from princes and kings, kings are often enough spiritually poor. Accept not a religion because it comes from a person whose character was the highest, often people of the grandest character have failed in expounding the truth. A man's digestive power may be exceptionally strong and yet he may not know anything about the process of assimilation. Here is a painter. He gives you lovely, exquisite, a splended work of art, and yet the painter may be the ugliest man in the world. There are people who are very ugly and yet they promulgate beautiful truths. Socrates was such a man. There was Sir Francis Bacon, not a very moral man, not of over-fine character and yet he gave to the world "Novum Organim," and was the first to teach Inductive Logic; his philosophy was sublime. Believe not in a religion because it comes from a very famous man. Sir Isaac Newton is very famous, and yet his emissory theory of light is wrong, his rare or proportion at which a flowing quantity increases its magnitude, method of fluxious (Newtonian Calculas) does not come up to the Differential System of Liebnitz. Accept a thing and believe in a religion on its own merits. Examine it youself. Shift it. Sell not your liberty to Buddha, Jesus, Mohammad or Krishna. If Buddha

taught that way or Christ taught this way, or if Mohammad taught in some other way, it was all good and all right for them; they lived on different times. They mastered their problems; they judged by their own intellects; it was so grand of them. But you are living today you shall have to judge and criticize and examine matters for yourselves. Be free, free to look at everything by your own light. If your ancestors believed in a particular religion, it was perhaps very good for them to believe in that, but now your salvation is your own business, your redemption is not the business of your ancestors. They believed in a particular religion which may or may not have saved them, but you have to work out your own emancipation. Whatever comes before you, examine it *per se,* examine it by yourself, not giving up your freedom. To your ancestors only one particular religion may have been shown; to you all sorts of truths, all sorts of religions, all sorts of philosophies, all sorts of sciences are being demonstrated. If the religion of your ancestors is yours on the ground of its being laid before you, so the religion of Buddhism is also yours on the ground of its being placed before you, so is **Vedanta** is yours on the ground of its being put before you.

Truth is nobody's property; truth is not the property of Jesus; we ought not to preach it in the name of Jesus. Truth is not the property of Buddha; we need not preach it in the name of Buddha. It is not the property of Mohammad. It is not the property of Krishna. It is everybody's property.

(In woods of God Realisation Vol. I, P-124-125)

महाकवि कालिदास ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कोई भी चीज पुरानी होने मात्र से सारी ठीक नहीं और न ही कोई चीज नई होने से निंदा की पात्र होती है. उन का कथन है कि सिर्फ बुद्धि के दुश्मन ही पुरानी चीजों को सिर्फ पुरानी होने के कारण पूर्ण शुद्ध या नई चीजों को नई होने मात्र से पूरी तरह अशुद्ध समझते हैं जब कि बुद्धिमान लोग अपनी बुद्धि से विश्लेषण करने के बाद ही किसी चीज को अच्छी या बुरी कहते हैं:

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापिकाव्यं नवमित्यवद्यम्.
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढाः परप्रत्ययनेयबुद्धयः..

हर युग में सार्वभौमिक विषयों पर विचारविमर्श के संदर्भ में पूर्वोक्त किस्म का तनाव हमेशा बरकरार रहा. अंधाधुंध परंपरागत मान्यताओं को मानने वाले लकीर के फकीर होते हैं. उन का रास्ता यद्यपि सरल होता है, क्योंकि उन्हें एक बने बनाए मार्ग पर चलना होता है, तथापि उन का रास्ता मानवता के विकास के लिए घातक, अतएव त्याज्य एवं अधन्य होता है. यह तो बन चुके पुल के ऊपर से

गुजरने के समान होता है. संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार मुरारि मिश्र का कथन है कि राम द्वारा बनवाए पुल के ऊपर से बंदर और भालू तक गुजर गए थे लेकिन उस समुद्र की गंभीरता को वे नहीं जानते. उसे तो सिर्फ पाताल तक निम्न स्थूलकाय मंदराचल ही जानता है:

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरतामापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्दराचलः..

(अनर्घराघव)

जिन्होंने मौलिक प्रयोगों और खोजों के परिणामस्वरूप पूर्ववर्ती ज्ञान में परिष्कार और संशोधन किया व नए तथ्य प्रकाश में रखे, उन की रूढ़िवादियों और परंपराभक्तों ने अवमानना की. इन अवमाननाओं का कारण उन परंपराभक्तों का बौद्धिक दिवालियापन था, जिस के फलस्वरूप वे नए तथ्यों को हृदयंगम करने में असफल रहते थे लेकिन लकीर के फकीरों, लाल बुझक्कड़ों, 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' के वादियों और बंद दिमागों द्वारा किए गए अपमान, अवहेलना और तिरस्कार से सत्यान्वेषियों ने हतोत्साहित हो कर अपने मार्ग का परित्याग नहीं किया, अपने सत्य अन्वेषण को छोड़ा नहीं. वे लगातार अपने मार्ग पर अग्रसर होते रहे, वे समझते थे कि जो आज हमारे मार्ग के रोड़े बने हुए हैं, जो हमारे सिद्धांतों का बिना ठोस और सही आधारों के, सिर्फ विरोध के लिए विरोध कर रहे हैं, वे अज्ञानता के शिकार हैं. वे हमारे सिद्धांतों को पूर्णतया समझने के योग्य नहीं हैं. उन्हें आशा थी और यह सही भी था कि आगामी युगों व पीढ़ियों में ऐसे कुशाग्र बुद्धि महानुभाव उपजेंगे जो इन सिद्धांतों का ईमानदारी से मूल्यांकन करेंगे, जो निष्पक्ष हो कर गुणावगुण का विश्लेषण करेंगे, संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति ने 8वीं सदी में इस स्थिति का सामना करते हुए सिंहनाद किया था:

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते
किमपि तान्प्रति नैष यत्नः.
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपिसमानधर्मा कालां ह्ययं
निरवधिर्विपुला च पृथ्वी..

अर्थात जो मेरी अवज्ञा करते हैं, उन का ज्ञान संकुचित है मेरा यह प्रयत्न उन के लिए नहीं है, कोई न कोई मेरा समानधर्मा उत्पन्न हुआ है या होगा. क्योंकि काल सीमा रहित है और पृथ्वी बहुत विस्तीर्ण है.

आज विश्व में अपेक्षाकृत रूप में परिस्थितियां बदल चुकी हैं. विज्ञान सरपट गति से अग्रसर हो रहा है. सदियों और शताब्दियों पुराने निर्मोक (केंचुली) आज उतार कर फेंक दिए गए हैं, दिमागों की खिड़कियां और वातायन खुल गए हैं, रहस्यमयता और अतिमानवीयता के क्षेत्र अनुदिन संकुचित

और संकीर्ण होते जा रहे हैं, बौद्धिक जड़ता गतिशीलता में परिवर्तित हो रही है. बहुमुखी दासता लुप्त हो रही है. यही कारण है कि आज हर क्षेत्र में पुनर्मूल्यांकन हो रहे हैं, यही कारण है कि हर चीज के आज तेजाबी परीक्षण हो रहे हैं. यही कारण है कि आज निर्दयतापूर्वक पूर्ण तटस्थता से तथा निरपेक्ष भाव अन्वेषण, गवेषण, अनुसंधान, आलोचन, पर्यालोचन और विवेचन हो रहे हैं. इस पृष्ठभूमि में भारतीय संविधान के अंतर्गत नागरिक के कर्तव्यों में वैज्ञानिक मनोवृत्ति को पुष्ट करने का उल्लेख किया गया है. दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान प्रत्येक नागरिक से यह आशा करता है कि वह स्वयं वैज्ञानिक मनोवृत्ति का हो और उस का प्रचार करे.

इसी पृष्ठभूमि में बुद्धिवादी लोग अस्पष्टतावाद, रहस्यमयता, धुंधवाद और प्रत्ययवाद के विरुद्ध लड़ रहे हैं. इसी से पौराणिक साहित्य, महाकाव्य और तथाकथित धार्मिक साहित्य आज बुद्धिवाद के कटघरे में खड़े हैं. जिसजिस चीज की कोई तर्कसंगत व वैज्ञानिक व्याख्या मिलेगी, जोजो चीज बुद्धिसंगत होगी, उसे ही आज स्वीकारा जा सकता है. बाकी सारा कूड़ाकरकट है. यह बेरहमी से रद्दी में फूंक दिया जाएगा. यह अवश्यंभावी है, यह अनिवार्य है, यह अपरिहार्य है, यह अटल है. जो लोग विकास के इस चरण का प्रतिरोध करने की मूर्खतापूर्ण और आत्मघाती चेष्टा करेंगे, आगामी इतिहासकार, आगामी पीढ़ियां और आगामी मानवता उन्हें कदापि माफ नहीं करेगी, उन के नाम पर नाकभौं चढ़ा करेगी, उन के नाम पर थूका जाएगा, क्योंकि आज जो लोक परंपरा और पुराने शास्त्रों के नाम पर स्वतंत्र विचारधारा, स्वतंत्र चिंतन और ज्ञानविज्ञान के निर्विरोध विकास, प्रसार, प्रचार और परिवर्धन में रुकावट डाल रहे हैं या डालेंगे, उस का कारण पूर्ववर्ती अवरोधकों की तरह अज्ञानता नहीं है बल्कि इस के पीछे एक योजनाबद्ध और सुनियोजित षड्यंत्र है. षड्यंत्रकारियों का उद्देश्य जनता की कमजोरियों का लाभ उठा कर, उन की भावनाओं से खिलवाड़ कर के अपना राजनैतिक उल्लू सीधा करना है. अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के निम्नलिखित शब्द बहुत उद्बोधक हैं:

"हमारे देश में धर्म के नाम पर कुछ इनेगिने आदमी अपने हीनस्वार्थों की सिद्धि के लिए करोड़ों आदमियों की शक्ति का दुरुपयोग करते हैं. बुद्धि पर परदा डाल कर पहले ईश्वर और आत्मा का स्थान अपने लिए लेना, और फिर धर्म, ईमान और आत्मा के नाम पर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए लोगों को लड़ानाभिड़ाना. मूर्ख बेचारे धर्म की दुहाइयां देते और दीनदीन चिल्लाते हैं, अपने प्राणों की बाजियां खेलते हैं और थोड़े से अनियंत्रित और धूर्त आदमियों का आसन ऊंचा करते हैं तथा उन का बल बढ़ाते हैं. धर्म और ईमान के नाम पर किए जाने वाले इस भीषण व्यापार को रोकने के लिए साहस और दृढ़ता के साथ उद्योग होना चाहिए."

अपने स्वार्थवश आदमी यदि दोचारदस व्यक्तियों का अपकार करे तो शायद इसे कोई क्षम्य अपराध कह दे लेकिन जो व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह, उस का नाम चाहे कितना ही आकर्षक क्यों न हो, सारी कौम या सारी मानवता के बौद्धिक विकास को अपने नापाक इरादों और अपनी काली करतूतों से अवरुद्ध करने की स्वार्थवश चेष्टा करे, उस नरपिशाच को या नरपिशाचों के उस वर्ग को कोई कैसे क्षमा करेगा?

जो लोग यह समझते हैं कि मानवता के बौद्धिक विकास के लिए अमुकअमुक चीज अत्यंत आवश्यक है, उन का यह प्रथम कर्तव्य है कि वे उनउन चीजों के लिए प्रयत्न करें. इस के लिए यदि संघर्ष की आवश्यकता पड़े (वैसे संघर्ष होता अनिवार्य ही है) तो निस्संदेह संघर्षरत होना चाहिए. आने वाली पीढ़ियां उन लोगों की आभारी होंगी जो इस मार्ग पर चल कर मानवता की समग्र बपौती में बुद्धि का प्रयास करेंगे. जो लोग इन प्रयासों में, इस संघर्ष में काम आएंगे, उन का खून रंग लाएगा क्योंकि शहीदों का खून आखिर रंग लाया ही करता है. आगामी पीढ़ी ऐसे लोगों को अपने पथप्रदर्शक के तौर पर सम्मानित करेगी लेकिन जो लोग जानबूझ कर अपने कर्तव्य पथ से विमुख होंगे, अपने कर्तव्य की उपेक्षा करेंगे, भय या लालच के वशीभूत हो कर अपने सही मार्ग से विचलित होंगे उन्हें आगामी पीढ़ियां कभी माफ नहीं करेंगी. यह मेरा दृढ़ विश्वास है.

आज बहुत सी बुद्धिवादी संस्थाएं देशविदेश में मानवता की बपौती को परिष्कृत और सुसंस्कृत करने में और उसे समृद्ध बनाने में लगी हैं. प्रायः हर प्रांत में बुद्धिवादी संस्थाएं गठित हो चुकी हैं. इन से प्रभावित हो कर नवयुवक और नवयुवतियां उन सिद्धांतों का प्रचार और व्यवहार में प्रयोग कर रही हैं जो वैज्ञानिक व बुद्धिसंगत है. इस के साथ ही वे कपोल कल्पित, अवैज्ञानिक और लाल बुझक्कड़ी चीजों का खंडन भी करते हैं. यह खंडन किसी दुर्भावना, किसी स्वार्थ या किसी भयवश नहीं है. इस के पीछे किसी धर्म, संप्रदाय या किसी स्वार्थ या किसी अल्पसंख्यक वर्ग विशेष को चिढ़ाने, उन की भावनाओं को ठेस पहुंचाने, उसे नीचा दिखाने या उस की धार्मिक स्वतंत्रता का हनन करने का उद्देश्य नहीं है. इस खंडन का एकमात्र उद्देश्य है, और उस में किसी प्रकार का शक नहीं रहना चाहिए. वह उद्देश्य है–सत्य को असत्य से पृथक कर के मानवता की समग्र बपौती को परिष्कृत और समृद्ध करना. मेरा खयाल है कोई भी मानवतावादी, कोई भी न्यायप्रिय व्यक्ति और कोई भी स्वस्थ दिमाग वाला मनुष्य इस उद्देश्य को समाज, देश या मानवता के लिए हानिकारक नहीं कह सकता. इस उद्देश्य को साकार करने का विरोध सिर्फ वे लोग ही करेंगे जो नहीं चाहते कि मानवता का विकास हो, जो जनता की अज्ञानता का अनुचित और पैशाचिक लाभ उठा कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं. ऐसे लोग अस्पष्टतावाद और धुंधवाद की खुराक पर पलते और फलतेफूलते हैं.

इतिहास साक्षी है कि जब कभी मानवतावादियों और सत्यान्वेषकों ने कोई निहायत मानवतावादी कदम उठाया, तभी स्वार्थी और मानव दुश्मन जोंकों ने मानवतावादियों और सत्यान्वेषकों का खून चूसा.

सती प्रथा एक अमानुषिक और क्रूर कुकर्म था, जिस में लाचार और बेसहारा विधवा को मृत व्यक्ति के साथ जीवित जलाया जाता था. कोई भी समझदार और मानवतावादी इस का समर्थन नहीं करता लेकिन जब इस अत्याचारपूर्ण पैशाचिक कृत्य के विरुद्ध भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने आवाज उठाई तो सारा रूढ़िवादी हिंदू समाज उन के खून का प्यासा हो गया था. उस के कुछ समय उपरांत स्वामी दयानंद ने हिंदू धर्म के मूर्खतापूर्ण विश्वासों के विरोध में पताका लहराई तो रूढ़िवादी हिंदू, सनातन धर्म को बचाने के लिए संगठित हो कर स्वामी दयानंद को मिटाने पर तुल गए और अंत में उन्हें ठिकाने लगा कर ही हटे. महात्मा गांधी ने हिंदूमुसलिम एकता की आवश्यकता पर बल दिया तो सांप्रदायिक हिंदू क्षुब्ध हो उठे और उन्हें इस अपराध के लिए मृत्युदंड दिया गया.

स्पष्ट है कि मानवता के दुश्मन और अज्ञान के सौदागर एवं सांप्रदायिकता के जहर पर फलनेफूलने वाले तत्त्व हर इनसानी मर्यादा के विपरीत जा कर उन लोगों को नष्ट करते हैं जो किसी वैज्ञानिक, बुद्धिवादी या मानवतावादी प्रयास में दत्तचित्त होते हैं क्योंकि ये प्रयास उन मानवता के दुश्मनों के क्षुद्रस्वार्थों की सिद्धि में बाधक होते हैं.

भारत के संविधान में नागरिक के मूल अधिकारों के साथसाथ मूल कर्तव्य भी अंकित हैं. अनुच्छेद 51 क (ज) में कहा गया है, "भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे." इसी मूल कर्तव्य की पूर्ति के उद्देश्य से मैं ने 'आत्मा और पुनर्जन्म' लेख लिखा था. 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सुधार की भावना' के विकास के लिए जरूरी है कि अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को समाप्त किया जाए. वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अर्थ है–अनुभव, बुद्धि और तर्क की कसौटी पर परख कर ही किसी चीज को अपनाना या त्यागना.

उक्त लेख इसी दिशा में एक कदम था. इस पर कुछ पाठकों ने अपने मन में उठने वाले संदेहों, आपत्तियों और आलोचनाओं को लिख भेजा. यह एक स्वस्थ दिशा निर्धारित करने के लिए अच्छी प्रक्रिया थी. मैं ने यथासंभव उन के उत्तर 'आत्मा और पुनर्जन्म– आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर' शीर्षक के अधीन लिखे जो 'सरिता' में प्रकाशित हुए. ये प्रश्न और उत्तर इसलिए लिखे गए ताकि जिन के मन में संदेह उपजे हैं वे मेरे द्वारा दिए गए उत्तरों के प्रकाश में समस्या पर पुनर्विचार करें. उन प्रश्नों के उत्तर देते समय किसी धर्म या संप्रदाय को ठेस पहुंचाना मेरा उद्देश्य बिलकुल न था. मेरा उद्देश्य सिर्फ यह था कि इन प्रश्नों

और आपत्तियों का समाधान किए जाने के बाद ही वे मूलभूत समस्या के विषय में अपना मत बनाएं. मैं ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास की दृष्टि से, एक नागरिक के नाते अपना मूल कर्तव्य निभाते हुए उन्हें सूचना, ज्ञान, बुद्धि और तर्क द्वारा सिर्फ सहायता पहुंचाई है. इन तथ्यों को उद्धृत किया जाना अनिवार्य था. उन में किसी की भावनाओं को आघात पहुंचाना मेरा उद्देश्य न था. तथ्यों को यदि मैं ने तोड़मरोड़ कर और मनमाने अर्थ कर के पेश किया होता तब तो यह जानबूझ कर किसी की भावनाओं को ठेस पहुंचाने का मामला बनता. मैं ने तथ्यों को वैसे का वैसे ही उद्धृत व संदर्भित किया है. तब यदि वे तथ्य कड़वे हैं तो इस में दोष मेरा नहीं बल्कि खुद तथ्यों का है. यह कैसी विडंबना है कि तथ्य प्रायः कड़वे ही होते हैं.

जिन तथाकथित रूप में आपत्तिजनक कथाओं को मैं ने संदर्भित किया है उन्हें सिर्फ इसलिए संदर्भित किया गया है ताकि यह वैज्ञानिक बात सिद्ध की जा सके कि आत्मा को मानने या न मानने का किसी समाज विशेष व देश विशेष के लोगों के यौन संबंधों के विषय से कोई संबंध नहीं है. आत्मा को मानना या न मानना एक चीज है और इस व उस तरह के यौन संबंधों का होना और चीज है. यह जरूरी नहीं कि आत्मा को न मानने वाले यौन संबंधों के मामले में उच्छृंखल होंगे और आत्मा को मानने वाले उच्छृंखल न होंगे. यथार्थ यह है कि किसी समाज व देश में यौन संबंधों के इस तरह के या उस तरह के होना अपने में बिलकुल स्वतंत्र विषय है और इसी बात को सिद्ध करने के लिए आत्मवादियों के कुछ उदाहरण दिए गए थे, जिन में वे आत्मा को मानने के बावजूद उच्छृंखल पाए गए हैं.

वे संदर्भ ऐसे नहीं हैं कि जिन्हें मैं ने पहली बार उठाया हो. बल्कि वे ऐसे हैं जिन्हें हिंदू धर्मग्रंथों को पढ़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है. संस्कृत में लिखे गए इन संदर्भों के बहुत से हिंदी व अंगरेजी में अनुवाद उपलब्ध हैं, जिन में से कुछ को नीचे अविकल रूप में उद्धृत किया जा रहा है.

चंद-तारा

सहस्त्रशिरसः पुंसो ना भिहदसरिरूहात्.
जातस्यासीत् सुतांघातुरत्रिपितृसमो गुणैः.. (2)

तस्यदृश्भ्यो भवत्पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल.
विप्रोषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पति.. (3)

सौऽजयद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्.
पत्नी बृहस्पतेर्दर्पातारां नामअहरद् बलात्.. (4)

यदा स देवगुरुणा याचितोऽमीक्षणशां मदात्.

नात्यजत्तत्कृते जज्ञे सुरदानव विग्रह:.. (5)

शुक्रो वृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत्सासुरोड्डपम्.
हरो गुरुसुतं स्नेहात्सर्वभूतगणावृत:.. (6)

सर्वदेवगणोपेता महेन्द्रो गुरुमन्वगात्.
सुरासुर विनाशोभूत्समरस्तारकामय:.. (7)

निवेदितोऽथांगिरसा सोमं निर्मत्स्र्य विश्वकृत्.
तारां स्वमर्त्रे प्रायच्छदन्तवैत्मीभवैत्पति:.. (8)

त्यजत्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परे:.
नाहंत्वां भस्मसात्कुर्य्यां स्त्रियं सान्तानिक: सति.. (9)

तत्याद ब्रीडिता तारा कुमारं सोम एव च.. (10)

ममायंन तवैत्युच्चै स्तस्मिन्विवदमानयो:.. (11)

ब्रह्म तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन्.. (12)

सोमस्यैत्याह शनकै: सोमस्तं तावदग्रहीत्. (13)

तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यमिधां नृप. (14)

(श्रीमद्भागवत पुराण 9-14-2-14)

इस का अर्थ करते हुए 'शुकोक्तिसुधासागर:' शीर्षक 'श्रीमद्भागवत पुराण' के अनुवाद (पृ. 754-55) में पं. रूपनारायण पांडेय ने लिखा है:

हे नरवर! सहस्त्र सिर वाले परमपुरुष नारायण के नाभिकमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए. ब्रह्मा के पुत्र अत्रि हुए. अत्रि जी गुणों में पिता के समान थे. (2)

अत्रि के नेत्रों से अमृतमय सोम (चंद्रमा) का जन्म हुआ. भगवान ब्रह्मा ने सोम को सब ब्राह्मण, औषध और तारागण का राजा बनाया. (3)

सोम ने त्रिभुवन को जीत कर राजसूय नामक महायज्ञ किया. बलगर्वित चंद्र ने उस यज्ञ में आई हुई त्रिभुवन सुंदरी गुरुपत्नी तारा को हठात घर में रख लिया. (4)

देव गुरु बृहस्पति ने अनेक बार अपनी स्त्री लौटा देने के लिए चंद्रमा को प्रार्थना पूर्वक समझाया किंतु मदमत्त चंद्र ने एक भी न मानी और गुरु को उन की स्त्री लौटा कर न दी, इसलिए देवता और दानवों में बड़ा भारी संग्राम हुआ. (5)

बृहस्पति और शुक्राचार्य में परस्पर शत्रुता है, इसलिए शुक्र ने अपने शिष्य दैत्यों सहित चंद्रमा का पक्ष लिया. इधर भूतगण सहित भगवान शंकर ने अपने गुरु के पुत्र बृहस्पति का पक्ष लिया. (6)

देवगण सहित इंद्र भी अपने गुरु की ओर से युद्ध में सम्मिलित हुए. उस तारा के लिए हुए युद्ध में अनेकानेक देवताओं का विनाश हुआ. (7)

कुछ दिन युद्ध होने के बाद ब्रह्मपुत्र अंगिरा (बृहस्पति के पिता) ने ब्रह्मा जी से जा कर सब वृत्तांत कहा. ब्रह्मा जी ने आ कर चंद्रमा को बहुत डांटा, तब सोम

ने तारा को दे दिया. बृहस्पति ने अपनी स्त्री को गर्भवती जान कर उस से कहा कि, 'अरी दुष्ट बुद्धि वाली तारा, तू ने मेरे क्षेत्र में अन्य पुरुष का बीज धारण किया है. शीघ्र उसे त्याग कर, त्याग कर. हे असती, तू स्त्री जाति है और मैं भी संतानार्थी हूं, इसी से तुझ को शाप दे कर भस्म नहीं करूंगा.' (8-9)

उस समय तारा ने लज्जित हो कर उस गर्भ से एक सुवर्ण के समान कांति वाला बालक उत्पन्न किया. उस परम सुंदर कुमार पर बृहस्पति और सोम दोनों का मन चलायमान हुआ– दोनों ने ही उस को लेना चाहा. (10)

'यह हमारा बालक है, तुम्हारा नहीं है', यों कह कर दोनों जन उस बालक के लिए विवाद करने लगे. तब सब ऋषि और देवताओं ने तारा से पूछा कि यह बालक किस का है? किंतु तारा ने लज्जा के कारण कुछ उत्तर न दिया. (11)

तब लोक लज्जा से कुपित उस कुमार ने स्वयं माता से कहा, 'हे असत आचरण करने वाली, वृथा लज्जा करने से क्या लाभ है? उत्तर क्यों नहीं देती? शीघ्र मुझ से अपना दोष बतला.' तदनंतर ब्रह्मा जी ने एकांत में ले जा कर सांत्वना के साथ तारा से पूछा. तब तारा ने धीरे से कहा कि पुत्र चंद्रमा का है. उस समय उस कुमार को चंद्रमा ले गए. (13)

राजन, लोक पतिविधाता ने उस बालक का नाम बुध रखा. (14)

(शुकोक्तिसुधासागरः पृ. 754-55)

सनातन धर्मी पं. माधवाचार्य ने इस स्थल का अनुवाद करते हुए अपनी पुस्तक 'पुराण दिग्दर्शन' में लिखा है:

'अनंत सिर वाले विराट पुरुष से ब्रह्मा उत्पन्न हुए. उस ब्रह्मा से गुणों में पिता के समान अत्रि पुत्र हुए. अत्रि की दृष्टि से अमृतमय चंद्रमा पुत्र हुआ. ब्रह्मा जी ने उस को ब्राह्मणों, औषधियों और नक्षत्रों का अधिपति नियत किया और उस ने तीनों लोकों को जीत कर राजसूय यज्ञ किया. एक बार घमंड से चंद्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को छीन लिया. गुरु ने बारबार याचना की. तब भी उस ने तारा को नहीं लौटाया. इसी कारण से देवता और दानवों में घोर संग्राम ठन गया. इधर शुक्राचार्य ने बृहस्पति के द्वेष से चंद्रमा को असुरों के पक्ष में मिला लिया. उधर अंगिरा से प्राप्त विद्या होने के कारण भूतगण सहित शिवभगवान ने गुरु पुत्र बृहस्पति का पक्ष लिया और देवगण सहित इंद्र ने भी अपने गुरु की ही सहायता की. इस तरह दोनों पक्ष बंध जाने पर परस्पर संघर्ष से देव और दानवों का विनाश हो गया. यह तारागणों का पारस्परिक युद्ध समझना चाहिए.' अंगिरा के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा जी ने चंद्रमा को झिड़क कर तारा स्वपति बृहस्पति को दिलवा दी. परंतु बृहस्पति ने तारा को सगर्भा जान कर कहा, 'हे दुर्बुद्धि, मेरे क्षेत्र में दूसरे के बोए बीज को तू जल्दी निकाल, नहीं तो तुझे भस्म कर डालूंगा, मुझे संतान की इच्छा नहीं है, तू स्त्री है इसीलिए

अवध्य समझता हूं, तब तारा ने लज्जित हो कर सोने के समान कांतिवाले बालक को जना जिसे देख बृहस्पति और चंद्रमा दोनों ने ही लेने की इच्छा की और 'यह बालक मेरा है तुम्हारा नहीं,' ऐसा कह कर परस्पर झगड़ा करने लगे. तब ब्रह्मा जी ने एकांत में बुला कर सांत्वना देते हुए तारा से पूछा और उस ने धीरे से 'चंद्रमा का' ऐसा बताया. तब वह पुत्र चंद्रमा ने ग्रहण किया. और ब्रह्मा जी ने उस का नाम 'बुध' रखा.'

(पुराण दिग्दर्शन, पृ. 187-88)

'भविष्य पुराण की आलोचना' पुस्तक में इस प्रसंग को ऐसे लिखा है: 'चंद्रमा का गुरु पत्नी से व्यभिचार'.

संगति–प्रजापति की कन्या तथा वृत्र की बहिन तारा का बृहस्पति से विवाह हुआ. वह बड़ी सुंदर थी. उस को चंद्रमा ने देखा.

मूल–

शीतांशुर्दर्शनादेव कामस्य वशमीयवान्.
आबभाष च मधुरं तारे एह्येहि मा चिरम्.. (8)
इंगिताकारकुशला तारा सोमस्य चैष्टितम्.
बुद्धवाशुद्धिमथा तन्वी प्राहदं मधुराक्षम्.. (9)
मुनेरंगिरसः पुत्रस्त्वं च सोम्योऽसि सोमराट्.
अंगिरसः मुनर्वीर स्नुषाहमुचितं न ते..
सह सौम्येव यो योगस्तव सिद्धोऽद्भुतो महान्. (10)
अंगिरास्त्वां किल पुरा ससुरासुर राक्षसैः.
राजत्वे स्थापयामास नैतत् स्मरसि किं विधो. (11)
कथमद्य निशा नाथ ह्यनंगेनासि पीडितः.
तस्माद् ब्रवीमि सिद्धिं ते रोचये घटितं कुरु.
परवत्यस्मि भद्रं ते न गम्यास्मि बुधोत्तम. (12)
एमुक्तस्तथा चासौ न चैतत् कृतवांस्ततः.
गृहीत्वा कर्षयामास सोमोऽनंगवशीकृतः. (13)

(भविष्य पुराण, उत्तर पर्व 4, अध्याय 99)

भाषार्थ

चंद्रमा उस तारा को देखते ही काम के वश हो गया और अति मीठी वाणी में बोला, 'हे तारे! आ, शीघ्र आ, देर मत कर.' (8) इशारे को जानने वाली तारा चंद्रमा की चेष्टा को तथा उस की मानसिक अशुद्धि को देख वह सुंदरी मीठे शब्दों

में यूं बोली. (9) 'हे सोमराट. तू अंगिरा मुनि के पुत्र का शिष्य है तथा तू सौम्य स्वभाव है. और मैं अंगिरा मुनि की पुत्रवधू हूं. इसलिए तेरे लिए उचित नहीं. सौम्य के साथ तेरा जो सिद्ध योग है, वह अति अद्भुत है. (10) अंगिरा ने तुझ को पहले सुरअसुर राक्षसों के साथ राज्य पर स्थापित किया. हे चंद्र, क्या वह तुझे याद नहीं. (11) हे रात्री के स्वामी चंद्र, तू आज कैसे काम से पीड़ित हो रहा है. इसलिए मैं धर्म की बात कहती हूं तथा मैं तुम्हारी सिद्धि चाहती हूं, ठीक काम कर. मैं पराई स्त्री हूं. तेरा कल्याण हो, हे बुद्धिमान, मैं तेरे रमण करने योग्य नहीं हूं.' (12) इस प्रकार से समझाने पर भी उस ने वैसा नहीं किया. काम के वशीभूत चंद्रमा ने उस तारा को पकड़ कर खींच लिया, इत्यादि.

संगति

बृहस्पति ने इस बात को जान कर चंद्रमा की निंदा की तथा यह समझा कि चंद्रमा स्वयं ही मेरी पत्नी को मेरे पास भेज देगा. किंतु जब बृहस्पति को अपनी पत्नी वापस नहीं मिली तो उस को बड़ा क्रोध आया और उस ने देवताओं की सहायता से चंद्रमा से युद्ध किया. किंतु चंद्रमा ने सब को हरा दिया यहां तक कि विष्णु को भी जीत लिया. तब ब्रह्मा ने कहा कि जो कुछ काम है सो मैं निपटा देता हूं.

मूल–

ब्रह्मा प्रोवाच सोम तु विनीतवदुपस्थितम्.
अर्पयस्व गुरोभार्यां न कार्यं पुनरीदृशम्.. (37)
स तथोक्तः समानीय ददो तारां बृहस्पतेः.
पुनरूचे शशी स्पष्टं शृण्वतां त्रिदिवोकसाम्.. (38)
अस्यां गर्भा मदीयोऽयं यदपत्यं ममैव तत्.
बृहस्पतिरथोवाच मया गर्भः समाहितः.. (39)
क्षेत्रे मदीयं चोत्पन्नस्तस्मात्स मम पुत्रकः.
उक्तं च वेदशास्त्रज्ञैऋषि मिर्धमं दर्शिमः.. (40)
उप्तं वाताहतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति.
क्षेत्रिणस्तस्य तद्बीजं न बीजी फलभाग्भवेत्.. (41)
माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः.
इति पौराणिकाः प्राहुर्मुनयां नयचक्षुषः.. (42)
विवदितौ निवार्याथ ब्रह्मा प्रोवाच तां वधूम्.
शनैरेकान्तमानीय गर्भोऽयं कस्य शंस मे.. (43)
एवमुक्ता तु सा ताराह्रिया नोवाच किंचन.

उत्ससर्ज क्षणांगर्भं भाभासित सुरालयम्.. (44)

तमुवाच ततो ब्रह्मा पुत्र कस्य सुतो भवान्.
सोमस्याहं सुतो ब्रह्मन्निति तथ्यं भयोदितम्.. (45)

बु-धोयं विबुधाः प्राहुः सर्वज्ञान विदांवरः..
गृहीत्वा पुत्रकं सोमो जगाम स्वं निवेशनम्.. (46)

गुरुर्गृहीत्वा स्वां भार्यां जगाम भवनं शनैः.
सोमोऽपि तनयं लब्ध्वा हर्षव्याकुलमानसः.. (47)

(भविष्य पुराण, उत्तर पर्व 4, अध्याय 99)

भाषार्थ

विनय से नम्र बैठे हुए चंद्रमा को ब्रह्मा ने कहा, 'गुरु की स्त्री दे दे और फिर ऐसा काम न करना.' (37) इस प्रकार कहने पर उस ने तारा को ला कर बृहस्पति को दे दिया फिर चंद्रमा ने सब देवताओं को सुनाते हुए स्पष्ट कहा. (38) 'इस में यह मेरा गर्भ है इसलिए इस से जो संतान होगी मेरी ही होगी,' तथा बृहस्पति ने कहा, 'यह मेरा गर्भ होगा. (39) क्योंकि मेरे क्षेत्र में उत्पन्न होगा. इसलिए वह मेरा पुत्र है और धर्म के जानने वाले शास्त्रज्ञ ऋषियों ने भी कहा है. (40) बोया हुआ या हवा से उड़ाया हुआ बीज जिस के क्षेत्र में उत्पन्न होता है वह उस खेत वाले की ही चीज है. प्रथम बीज वाला फल का भोगी नहीं होता.' (41) तत्त्व के जानने वाले चंद्रमा ने कहा, 'आप ने यह ठीक नहीं कहा. माता केवल मशक थैली है, पुत्र पिता का ही है. जिस से पैदा हुआ, वह उस का है, यह न्याय दृष्टि वाले पौराणिक मुनियों ने कहा है.' (42) उन दोनों विवाद करने वालों को हटा कर ब्रह्मा ने धीरे से उस वधू को एकांत में ले जा कर पूछा, 'मुझे बता यह किस का गर्भ है.' (43) इस प्रकार कहने पर तारा लज्जा से कुछ भी न बोली और एक क्षण में गर्भ को छोड़ दिया. तब देवताओं का गृह तेज से प्रकाशित हो गया. (44) फिर ब्रह्मा ने उस से कहा, 'हे पुत्र! आप किस की संतान हैं.' 'हे ब्राह्मण! मैं सोम अर्थात चंद्रमा का पुत्र हूं. यह मैं ने सत्य कहा है.' (45) तब सब बुद्धिमानों ने कहा, 'यह बुध है और सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ है.' पुत्र को ले कर चंद्रमा अपने घर चला गया. (46) गुरु अपनी स्त्री को ले कर धीरेधीरे अपने भवन में चले गए. चंद्रमा भी पुत्र को प्राप्त कर के हर्ष से अत्यंत प्रसन्न हुआ. (47)

इसी बात को संस्कृत के नैषध महाकाव्य में इस प्रकार कहा गया है:

गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः.
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः..

(17-34)

अर्थात, हे ब्राह्मणो! गुरु (शिक्षक, दीक्षा गुरु, पिता, चाचा, बड़ा भाई

आदि) की स्त्री के साथ संभोग करने में पाप की कल्पना छोड़ो (क्योंकि) जिन तुम लोगों के स्वामी (द्विजराज) अर्थात चंद्रमा के अपने गुरु (बृहस्पति) की स्त्री (तारा) के साथ संभोग करने को अत्यधिक साग्रह सुना जाता है. (बृहस्पति देवों के गुरु माने जाते हैं). उन की तारा नाम की स्त्री के साथ द्विजराज (चंद्रमा, पक्षी–द्विजों अर्थात ब्राह्मणों के राजा) ने संभोग किया. 'यथाराजा तथा प्रजा' नीति के अनुसार तुम लोगों को भी गुरु पत्नी के साथ संभोग करने में महा पातक लगने का भय छोड़ देना चाहिए. इंद्रादि के पास में वसिष्ठ आदि निवास करते हैं, उन्हीं को संबोधित कर 'द्विजाः' पद कहा गया है (यहां भी चंद्रमा का उपहास किया गया है. 'ग्रहः' के स्थान में 'गह' पाठ होने पर–चंद्रमा का अत्यधिक उत्सव होतां है, या गुरु पत्नी से संभोग करने पर भी चंद्रमा का तेज समूह प्रतिदिन उदय होता ही है, वह उक्त कर्म से पतित नहीं हुआ.)

श्लोक में सांकेतिक पौराणिक संदर्भ टीकाकार ने इस प्रकार दिया है: चंद्रमा ने बृहस्पति की पत्नी तारा से पुत्र उत्पन्न किया, तो उस पुत्र को ग्रहण करने के लिए इंद्रादि देवों ने बहुत प्रयत्न किया, उस समय उन के प्रति बड़े युद्ध का आरंभ करने वाले चंद्रमा ने अपने तेज समूह को प्रकट किया, बाद में ब्रह्मा ने बृहस्पति की स्त्री को चंद्रमा से छुड़वा दिया, फिर भी उस के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को चंद्रमा ने ही प्राप्त किया, जिस का नाम 'बुध' है.

(नैषध महाकाव्यम्, द्वितीय भाग, हिंदी व्याख्याकार-पंडित हरगोविंद शास्त्री, सन् 1967, पृ. 1048-1049)

M. Shakti M. Gupta while narrating the story of god Moon who eloped with his Guru's wife Tara, writes as below in her book: *'Loves of Hindu Gods & Sages'* **(Allied Publishers, 1973) :**

Soma elopes with Tara

Soma, popularly known as the Moon, is deified as a deity. He is considered as a son of rishi Atri andAsasuya, but is also believed to have sprung from the ocean of milk when it was churned to extract ambrosia.

At first Soma the Moon was a very pious being. He looked after the old and the infirm, regularly distributed alms to the poor, and religiously performed all sacred duties as liad down in the scriptures. He even performed the Rajasuya sacrifice. But as time passed and he got stronger and became conscious of his powers, he started neglecting the scriptures and the performance of his sacred duties. Soon he became arrogant and licentious. Though he had married twenty-seven daughters of rishi Dakasha and was even passionately in love with one of his wives called Rohini, it did not stop him from casting a roving eye around.

One day while passing through the heavens his glance fell on the

beautiful wife of rishi Brihaspati, who was the teacher of the gods. Tara shone with her beauty in the dark night and her effulgence and radiance made even the gods bow their head with admiration. Her well-shaped, long limbs were the envy of all women and her face partially covered by her long, black tresses, was alluring; her languid eyes had an inviting, come-hither look.

Soma's glance at Tara was a glance of the revisher, and the glance of a man of arrogance with an attitude of mind that if he coveted someone, the person had to bow to his wishes. He desired Tara and in spite of her being the wife of the Preceptor of the gods, he carried her off, Tara also did not resist his advances as she was flattered that the Moon, the envy of all others now desired her.

When Brihaspati came to know of his wife's abduction he was incensed. But being a sage, he controlled his anger and gently remonstrated with Soma and requested him to return him his wife Tara. But Soma in his arrogance refused to send her back. Soma's arrogance and refusal to return Tara to her husband had very serious repercussions. It led to a war called Tarakamaya, the war for Tara, in which all the daityas and other anti-gods with their preceptor Usanas sided with Soma and most of the gods with Indra as their leader sided with Brihaspati.

A fierce battle took place. The sky was overcast by innumerable missiles shot by either side; the sound of drums and thunderbolts deafened all other sounds, blood ran in rivulets, but there was no sign of the battle being won by either side. The Earth was shaken by the fierce struggle and she approached Brahma for protection. The pleadings of the Earth goddess moved Brahma and he decided to put a stop to the War. Seeing the unrighteous Soma still strong and holding out against Brihaspati's attack, Shiva came into the battle-field and cut soma into two by his trident. And then Brahma persuaded Soma to return Tara to her husband.

Compelled by Brahma, Soma had no choice but to part company with Tara but the story did not end there. Tara, having lived with Soma, was now pregnant and Brihaspati, her husband, did not want her to carry the child any more and ordered her to get rid of it.

Tara, obeying the order of her husband, immediately gave birth to a boy of great beauty whom she deposited in a clump of Munja grass. The child born to Tara had an unearthly radiace and was of exceptional beauty. Seeing the child, lying in a clump of Munja grass, both Soma, the Moon, and Brihaspati her husband, were fascinated by his unearthly beauty and radiance and claimed the child as theirs. Tara out of bashfulness or from a feeling of guilt was ashamed to disclose the paternity of the child and kept quiet while both here seducer and her

husband argued and claimed the child as theirs. Since there appeared no chance of either of them giving up his claim to the new-born, the child got incensed and shouted at his mother. 'Unless, vile woman, you disclose who is my father, I will sentence you to such a fate as shall deter every female in future from hesitatiing to speak the truth.'

Brahma, however, saved the situation. He first appeased the anger of the child and then asked Tara to speak the truth. Thus approached by Brahma, Tara blushingly confessed that Soma was the father of the child. Soma or Lord of the Constellations then embraced his son and called him wise. Hence the child was named Buddha and he later became the planet Mercury.

Brihaspati, enraged at Tara for leaving him for Soma, cursed her to reduced to ashes. Brahma nullified the curse by reviving her from the heap of ashes into which she had been earlier converted by her husband, and after a purification ceremony she was received back by her husband.

जहां तक दशरथ जातक का संबंध है, वह न हिंदू धर्मग्रंथ है और न किसी हिंदू धर्मग्रंथ का अंग है. वह तो पाली भाषा में लिखी गई बुद्ध के पिछले जन्मों की कहानियों की पुस्तक है, जिसे बुद्ध के काफी बाद लिपिबद्ध किया गया. बुद्ध और उन के मत को हिंदू धर्म अपना शत्रु मानता रहा है. हिंदू धर्मग्रंथों में बुद्ध के विरुद्ध बहुत सी बातें कही गई हैं. वाल्मीकि रामायण में उसे चोर कहा गया है और राजा को उसे दंडित करने का आदेश दिया गया है. रामायण का कथन है–

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि.
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात्..

(वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 109-34)

इस का अर्थ करते हुए गीता प्रेस गोरखपुर से छपे वाल्मीकि रामायण के हिंदी अनुवाद में लिखा है–जैसे चोर दंडनीय होता है, उसी प्रकार (वेदविरोधी) बुद्ध (बौद्धमतावलंबी) भी दंडनीय है. तथागत (नास्तिक विशेष) और नास्तिक (चार्वाक) को भी यहां इसी कोटि में समझना चाहिए. इसलिए प्रजा पर अनुग्रह करने के लिए राजा द्वारा जिस नास्तिक को दंड दिया जा सके, उसे तो चोर के समान दंड दिलाया ही जाए परंतु जो वश के बाहर हो, उस नास्तिक के प्रति विद्वान ब्राह्मण कभी उन्मुख न हो. उस से वार्तालाप तक न करे. (श्रीमद्‌वाल्मीकीय रामायण, केवल भाषा तीसरा संस्करण, संवत 2033, पृ. 303)

हिंदू धर्मग्रंथ कहे जाने वाले पुराणों में बुद्ध को असुर (राक्षस) कहा गया है.

भविष्य पुराण में कहा गया है–

बलिना प्रेषितो भूमौ मयः प्राप्तो महासुरः.
शाक्यसिंह गुरुर्गेयो बहुमाया प्रवर्तकः.. (30)

स नाम्ना गौतमाचार्या दैत्य पक्ष विवर्धकः.
सर्वतीर्थेषु तेनेव यंत्राणि स्थापितानि वै.. (31)

तेषामधोगता येतु वे बौद्धाश्चासंसमन्ततः.
शिखासूत्र विहीनाश्च बभूवुर्वर्णसंकरा.. (32)

दश कौट्य स्मृता आर्या बभूवुर्बौद्ध मार्गिणः.. (33)

(भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग पर्व 4, अ. 20)

भावार्थ– बलि ने पृथ्वी पर एक बहुत माया प्रवर्तक महान असुर को भेजा जो शाक्यसिंह के नाम से विख्यात हुआ, उसे गौतम आचार्य भी कहते थे. वह दैत्यों के पक्ष को बढ़ाने वाला था. उस ने सभी तीर्थों में अपनी संस्था स्थापित की. जो लोग उस के मतानुयायी बौद्ध बने. वे चोटी व जनेऊ से हीन एवं नीच गति को प्राप्त हो कर वर्ण संकर हो गए. दस करोड़ आर्य बौद्ध मार्ग के अनुगामी हो गए.

(डा. श्रीराम आर्य द्वारा 'पुराण किस ने बनाए' के पृ. 17-18 पर उद्‌धृत)

ईसा की आरंभिक शताब्दियों में लिखे गए संस्कृत नाटकों में भी बुद्ध को हिंदू धर्म द्वेषी और नीच कहा गया है. उदाहरण के लिए शूद्रक रचित 'मृच्छकटिकम्' नाटक का सातवां अंक देखा जा सकता है, जिस में बौद्ध भिक्षुओं को गालियां दी गई हैं, और उन्हें मारापीटा गया है.

भारत का इतिहास इस बात का प्रमाण पेश करता है कि हिंदू राजाओं ने बौद्धों को किस तरह कुचला. 'शंकर दिग्विजय' नामक संस्कृत महाकाव्य में इस का वर्णन बहुत सटीक ढंग से किया गया है. इस के प्रथम सर्ग में आता है–

स्कंदानुसारिणा राज्ञा, जैनाः धर्मद्विषो हताः,
व्यघाद आज्ञा सुधन्वा च, वधाय श्रुतिविद्विषां,
यो न हन्ति स हन्तव्यः भृत्यान् इति अन्वशान नृपः..

इस का अर्थ करते हुए भारत रत्न डा. भगवान दास ने लिखा है–'स्कंदगुप्त सम्राट ने जैसा किया था, उस का अनुसरण करते हुए सुधन्वा राजा ने भी (शंकर की इच्छा से) अपने भृत्यों को यह आज्ञा दी कि रामेश्वर के सेतु से हिमालय पर्यंत बौद्धों को मार डालो, उन के बूढ़ों व बच्चों तक को न छोड़ो, और जो उन को मारने से हिचके उस को भी मार डालो.'

(देखें– डा. भगवान दास लिखित 'विविधार्थ', पृ. 140)

7 वीं शताब्दी में ब्राह्मण राजा शशांक ने बौद्धों पर भयंकर अत्याचार किए थे. प्रसिद्ध यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में शशांक के अत्याचारों की जो

कथा लिखी है उस से ज्ञात होता है कि शशांक ने बौद्ध गया के विहारों को भूमिसात कर दिया था और बोधि वृक्ष को उखाड़ कर जला डाला था. उस समय अनेक स्थानों पर बौद्ध मतानुयायी जनता का कत्लेआम किया गया था.

महावंश पुराण के 93 वें परिच्छेद में तथा सिंहली कथाओं में उल्लेख मिलता है कि 16 वीं शताब्दी में सिंहलद्वीप में राजा जयसिंह ने अपने पिता की हत्या कर गद्दी पर अधिकार कर लिया. इस के पश्चात उस ने बौद्ध संघ को आमंत्रित कर के पितृवध का प्रायश्चित्त कराने में असमर्थता प्रकट की. इस पर उस ने शैवमत स्वीकार कर लिया. इस के पश्चात उस ने बौद्धों पर इतने भयानक अत्याचार किए कि चारपांच वर्षों के अंदरअंदर समस्त सिंहलद्वीप में एक भी बौद्ध शेष नहीं रहा. बौद्धों के बड़ेबड़े ग्रंथागार उस ने अपने हाथों जला डाले.

'दिव्यादान' नामक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ में तथा तिब्बती लामा तारानाथ के इतिहास में उल्लेख मिलता है कि पुष्यमित्र शुंग ने पाटलीपुत्र और जालंधर के समस्त बौद्ध विहारों को जला डाला और शादल में उस ने घोषणा की थी कि जो व्यक्ति जितने बौद्ध श्रमणों के मस्तिष्क काट कर लाएगा उसे प्रति मस्तिष्क सौ सोने के सिक्के पारितोषिक स्वरूप मिलेंगे. विष्णु पुराण, मनुस्मृति इत्यादि में अनेक ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिन में जैनों व बौद्धों के प्रति घोर तिरस्कार तथा द्वेष की भावनाएं हैं.

जिस बुद्धमत के प्रति हिंदू धर्म का इतना विद्वेष पूर्ण दृष्टिकोण रहा हो, उस बौद्ध साहित्य की एक कथा के संदर्भ से किसी हिंदू की धार्मिक भावना को कैसे ठेस पहुंच सकती है?

दशरथ जातक की कथा निम्नलिखित है–

दशरथ वाराणसी के राजा थे. उन के महल में 16 हजार स्त्रियां थीं. इन में जो पटरानी थी, उस ने दो पुत्र और पुत्री को जन्म दिया– राम, लक्ष्मण और सीता. यही सीता आगे चल कर राम की पत्नी (पटरानी) बना दी गई.

दशरथ की पटरानी मर गई, फिर उन्होंने दूसरी पटरानी बनाई. वह उन की अत्यंत प्रिया थी. उसी के गर्भ से भरत का जन्म हुआ. एक बार दशरथ ने अपनी पटरानी के पराक्रम पर रीझ कर वर देने की इच्छा प्रकट की. रानी ने इस वर को राजा के यहां ही थाती रख दिया. जब भरत कुमार आठ साल का हो गया, तब पटरानी ने अपनी थाती को लौटाना चाहा. वह बोली, 'मेरे पुत्र को राज्य दे दो,' जिस से राजा बहुत व्यग्र हुए. भरत की मां भयभीत हो कर शयनागार में घुस गई.

राजा ने उसे बिना वर दिए ही सोचा कि स्त्री अकृतज्ञ और मित्रद्रोही होती है. कहीं यह जाली पत्र (आज्ञापत्र) या जाली मुहर बनवा कर मेरे मातृहीन दोनों पुत्रों (राम और लक्ष्मण) का खून न करा दे. दशरथ ने अपने दोनों पुत्रों को बुला कर कहा, 'यहां तुम्हारे लिए खतरा है. किसी सीमांत राज्य में या वन में जा कर रहो.

मेरे मरने पर सिंहासन दखल कर लेना.' इस के बाद राजा ने ज्योतिषियों से पूछ कर यह पता लगा लिया कि उन्हें 12 साल और जीवित रहना है. राम और लक्ष्मण पिता के कहने पर जब वन जाने लगे, यानी प्राण बचा कर भागने लगे तब उन की बहिन सीता भी रोतीपीटती पीछे लग गई. उसे भी तो प्राण भय था. सीता ने अपने अग्रज से कहा, 'तुम हमारे लिए पिता तुल्य हो.' राम भाई लक्ष्मण और बहिन सीता के साथ प्राण बचाने के लिए हिमालय की ओर भागे. दशरथ किसी प्रकार 9 साल तक जीवित रहे और ज्योतिषी के कथन को मिथ्या प्रमाणित करते हुए चल बसे. जब दशरथ राम वियोग में घुल रहे थे. उसी समय भरत माता ने भरत से कहा, 'छत्र धारण कर लो.' अमात्यों ने बाधा डाली, भरत इस विरोध के कारण छत्र धारण करने में असमर्थ रहा.'

इस के बाद भरत चतुरंगिणी सेना के साथ वहां गए जहां सीता के साथ रामलक्ष्मण निवास कर रहे थे. पैरों पर गिर कर भरत ने पिता के मरने का संवाद राम से कहा. राम ने कुछ उपदेश दिया. भरत ने यह आग्रह किया कि आप चल कर वाराणसी का राज्य संभालिए, किंतु राम राजी नहीं हुए. उन्होंने कहा, 'मैं तीन वर्ष बाद आऊंगा. यदि मैं 9 वें वर्ष में वाराणसी लौट जाऊं तो पिता की आज्ञा का उल्लंघन हो जाएगा.'

भरत के बारबार आग्रह करने पर राम ने कहा, 'सीता और लक्ष्मण को ले जाओ और मेरी पादुका भी ले जाओ. पादुका राज्य चलाएंगी.' सीता और लक्ष्मण के साथ भरत राम की पादुका ले कर लौटे. तीन वर्ष बाद राम वन से लौट कर वाराणसी पहुंचे. वहां अमात्यों सहित कुमारों ने उन का स्वागत किया तथा सीता को 'पटरानी' बना कर राम और सीता दोनों का अभिषेक किया.

इस कथा के अंत में बुद्धदेव ने यह घोषणा कर दी है कि दशरथ महाराज शुद्धोदन (बुद्धदेव के पिता) थे. राम की माता–बुद्धदेव की माता महामाया थी. सीता राहुल की जननी थी और भरत आनंद थे. लक्ष्मण सारिपुत्त थे, दशरथ की परिषद–बुद्धपरिषद थी और राम स्वयं में ही पंडित था. राम तथा बुद्धदेव इक्ष्वाकु वंशीय थे. 'अम्बट्ठसुत' में बुद्धदेव ने अम्बट्ठ माणवक से कहा था कि 'इक्ष्वाकु के कुछ पुत्र अपनी बहिन के साथ जंगल में जा कर बस गए और अपनी सहोदरा बहिन से ही संतान पैदा करवाने लगे. राम से भी यही कर्म करवाया गया.'

(जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 8-9)

डा. कामिल बुल्के ने अपने शोधग्रंथ 'रामकथा' (पृ. 56, 57, 58) में दशरथ जातक के विषय में लिखा है–

प्राचीन बौद्ध साहित्य में राम कथा संबंधी तीन जातक सुरक्षित हैं, जिन में दशरथ जातक सब से अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है.

दशरथ जातक जिस जातकटठवण्णना में पाया जाता है वह पांचवीं शताब्दी की एक सिंहली पुस्तक का पाली अनुवाद है. इस सिंहली पुस्तक में जो कथाएं

पाई जाती हैं, वे प्राचीन पाली गाथाओं की टीका के रूप में लिखी गई हैं.

प्रत्येक जातक में पहले 'वर्तमान कथा' (पच्चुप्पन्न बत्थु) दी जाती है जिस में यह बतलाया जाता है कि किस अवसर पर महात्मा बुद्ध ने इस जातक को कहा है.

इस के बाद 'अतीत कथा' (अतीतबत्थु) उद्धृत है, जिसे वास्तविक जातक मानना चाहिए.

अंत में महात्मा बुद्ध 'जातक का सामंजस्य' (समाधान) प्रस्तुत करते हैं, जिस में वह वर्तमान कथा और अतीत कथा के पात्रों की अभिन्नता प्रकट करते हैं.

गाथाएं प्रायः अतीत कथा में ही मिलती हैं, लेकिन वे कभी वर्तमान कथा और कभी समाधान में भी विद्यमान हैं. इन के लिए एक टीका जोड़ी गई है. जिस में गाथा के प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है.

पाली जातकटठवण्णना (दे. फासवाल : दि जातक, भाग 4, 123, नं. 461) के दशरथ जातक की रामकथा का संक्षेप इस प्रकार है–

वर्तमान कथा

महात्मा बुद्ध ने यह जातक जेतवन में कहा. किसी गृहस्थ का पिता मर गया था. इस पर उस ने शोक के वशीभूत हो कर अपना सारा कर्तव्य छोड़ दिया. यह जान कर बुद्ध ने उस से कहा कि प्राचीन काल के पंडित लोग (पौराणिक पंडित) अपने पिता मरण पर किंचित भी शोक नहीं करते थे. इस के अनंतर दशरथ के मरने पर राम के धैर्य का उदाहरण देने के लिए महात्मा बुद्ध ने दशरथ जातक सुनाया.

अतीत कथा

दशरथ महाराज वाराणसी में धर्मपूर्वक राज्य करते थे. इन की ज्येष्ठा महिषि की तीन संतानें थीं: दो पुत्र (राम पंडित और लक्ष्मण) और एक पुत्री (सीता देवी). इस महिषि के मरने के पश्चात राजा ने एक दूसरी को ज्येष्ठा के पद पर नियुक्त किया. (अग्गमहेसिटठाने ठपेसि) उस के भी एक पुत्र (भरत कुमार) उत्पन्न हुआ. जब भरत की अवस्था सात वर्ष की थी, रानी ने अपने पुत्र के लिए राज्य मांगा. राजा ने स्पष्ट इनकार कर दिया. लेकिन जब रानी प्रतिदिन इस के लिए अनुरोध करने लगी तब राजा ने उस के षड्यंत्रों के भय से अपने दोनों पुत्रों को बुला कर कहा, 'यहां रहने से तुम्हारा अनर्थ होने की संभावना है. किसी अन्य राज्य या वन में जा कर रहो और मेरे मरने के बाद लौट कर राज्य का अधिकार प्राप्त करो.' तब राजा ने ज्योतिषियों को बुला कर उन से अपनी मृत्यु की अवधि पूछी. बारह वर्ष का उत्तर पा कर उन्होंने कहा, 'हे पुत्रो, बारह वर्ष के बाद आ कर (राज) छत्र को उठाना.' पिता की वंदना कर के दोनों भाई जाने वाले थे कि सीता देवी भी पिता से विदा ले

कर उन के साथ हो ली. तीनों के साथसाथ बहुत से अन्य लोग भी चल दिए. उन को लौटा कर तीनों हिमालय पहुंच गए और वहां आश्रम बना कर रहने लगे.

नौ वर्ष के बाद दशरथ पुत्रशोक के कारण मर जाते हैं. रानी भरत को राजा बनाने में असफल होती है, क्योंकि अमात्य और भरत भी इस का विरोध करते हैं. तब भरत चतुरंगिणी सेना ले कर राम को ले आने के उद्‌देश्य से वन को चले जाते हैं. आश्रम के पड़ोस में सेना छोड़ कर भरत थोड़े अमात्यों के साथ राम के पास जाते हैं. उस समय राम अकेले ही हैं. भरत उन से पिता के देहांत का सारा वृत्तांत कह कर रोने लगते हैं. राम पंडित न तो शोक करते हैं और न रोते हैं. (राम पंडितो नेव सोचि न रोदि).

संध्या समय लक्ष्मण और सीता लौटते हैं. पिता के देहांत के विषय में सुन कर दोनों अत्यंत शोक करते हैं. इस पर राम पंडित उन को धैर्य देने के लिए अनित्यता का धर्मोपदेश सुनाते हैं. उसे सुन कर सभी का शोक मिट जाता है. (निस्सांका अहोसि).

बाद में भरत के बहुत अनुरोध करने पर राम पंडित यह कह कर वन में रहने का निश्चय प्रकट करते हैं, 'मेरे पिता ने मुझे 12 वर्ष की अवधि के अंत में राज्य करने का आदेश दिया है. अब लौट कर मैं उन की आज्ञा का पालन नहीं कर सकूंगा. मैं तीन वर्ष के बाद लौट आऊंगा.'

जब भरत भी शासनाधिकार अस्वीकार करते हैं तब राम पंडित अपनी तृणपादुकाएं (तिण पादुका) दे कर कहते हैं, 'मेरे आने तक ये शासन करेंगी.'

पादुकाएं ले कर भरत, लक्ष्मण और सीता अन्य लोगों के साथ वाराणसी लौटते हैं. अमात्य इन पादुकाओं के सामने राजकार्य करते हैं. अन्याय होते ही पादुकाएं एकदूसरे पर आघात करती हैं. (परिहण्णन्ति) और ठीक निर्णय होने पर वे शांत रहती हैं.

तीन वर्ष व्यतीत होने पर राम पंडित अपनी बहिन सीता से विवाह करते हैं. सोलह सहस्त्र वर्ष तक धर्मपूर्वक राज्य करने के बाद वे स्वर्ग चले जाते हैं.

समाधान

इस में पहले राम के 16000 वर्ष तक शासन करने के विषय में एक गाथा उद्‌धृत है और इस के बाद में महात्मा बुद्ध जातक का सामंजस्य यों बैठाते हैं– उस समय महाराज बुद्ध शुद्धोदन महाराज दशरथ थे, महामाया (बुद्ध की माता) राम की माता यशोधरा (राहुल की माता) सीता, आनंद भरत थे और मैं राम पंडित था.

(देखें, रामकथा, (उत्पत्ति और विकास), प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी. फिल उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध, लेखक फादर कामिल बुल्के, तीसरा संस्करण 1971 ई. पृष्ठ 56, 57, 58)

Giving the English version of the Dasharath Jataka in their book

"Jataka Tales" Mr. H.T. Francis & Mr. E.J. Thomas write as under on page 203 and the following:

"Rama & Sita"

Once upon a time, at Benaras, a great king named Dasharatha renounced the ways of evil and reigned in righteousness. Of his sixteen thousand wives, the eldest and queen-consort bore him two sons and a daughter, the elder son was named Rama pandita or Rama the wise, the second was named Prince Lakkhana or Lucky and the daughter's name was the Lady Sita.

In course of time, the queen consort died. At her death, the king was for a long time crushed by sorrow, but urged his courtiers he performed her obsequies, and set another in her place as queen consort. She was dear to the king and beloved. In time she also conceived and all due attention have been given her. She brought forth a son and they named him Prince Bharata.

The king loved his son much and said to the queen, "Lady, I offer you a boon; choose". She accepted the offer but put it off for the time, when the Lad was seven years old, she went to the King and said to him, "My Lord, you promised a boon for my son. Will you give it to me now?" "Choose, lady," said he. "My Lord," quoth she, "give my son the kingdom."

The King snapt his fingers at her; "Out vile jade" said he angrily, "my other two sons shine like blazing fires; would you kill them, and ask the kingdom for a son of yours!" She fled in terror to her magnificent chamber, and on other days again and again asked the king the same. The king would not give her this gift. He thought within himself: "Women are ungrateful and treacherous. This woman might use a forged letter or a treacherous bribe to get my sons murdered." So he sent for his sons, and told them all about it, saying: "My sons, if you live here some mischief may befall you. Go to some neighbouring kingdom, or to the woodland, and when my body is burnt, then return and inherit the kingdom which belongs to your family."

Then he summoned soothsayers, and asked them the limits of his own life. They told him he would live yet twelve years longers. Then he said, "Now my sons after twelve years, you must return, and uplift the umbrella of royalty." They promised, and after taking leave of their father, went forth from the palace weeping. The Lady Sita said," I too will go with my brothers." She bade her father farewell, and went forth weeping.

These three departed amidst a great company of people. They sent the people back and proceeded until at last they came to Himalaya. There

in the spot well watered, and convenient for getting of wild fruits, they built a hermitage, and there lived, feeding upon the wild fruits.

Lakhana-pandita and Sita said to Rama-pandita, "You are in place of a father to us; remain then in the hermitage, and we will bring fruits, and feed you." He agreed: thence forward Rama-pandita, stayed where he was, the others brought the fruits and feed him.

Thus they lived there, feeding upon the wild fruit; but king Dasaratha pined after his sons, and died in the ninth year. When his obsequies were performed, the queen gave orders that the umbrella should be raised over her son, Prince Bharata. But the courtiers said," The lords of the umbrella are dwelling in the forest, and they would not allow it." Said Prince Bharata, "I will fetch back my brother Rama-pandita from the forest, and raise the royal umbrella over him." Taking the five emblems of royalty, he proceeded with a complete host of the four arms to their dwelling place. Not far away he caused camp to be pitched, and then with a few courtiers he visited the hermitage at the time when Lakkhana-pandita and Sita were away in the woods. At the door of the hermitage sat Rama-pandita, undismayed and at ease like a figure of fine gold firmly set. The prince approached him with a greeting, and standing on one side, told him of all that had happened in the kingdom, and falling at his feet along with the courtiers, burst into weeping. Rama-pandita neither sorrowed nor wept; he shewed no change of feeling. When Bharata had finished weeping, and sat down, towards evening the other two returned with wild fruits. Rama-pandita thought, "These two are young, all-comprehensive wisdom like mine is not theirs. If they are told on a sudden that our father is dead, the pain will be greater than they can bear, and who knows but their hearts may break. I will find a device to persuade them to go down into the water, and then tell them the news." Then pointing out to them a place in front where there was water, he said, "you have been out too longs, let this be your penance—go into that water, and stand there." Then he repeated a halfstanza

Let Lakkhana and Sita both into that pond descend. One word sufficed, into the water they went, and stood there. There he told them the news by repeating the remaining stanza:

Bharata says king Dasharaths's life is at an end.

When they heard the news of their father's death, they fainted. Again he repeated it, again they fainted, and when even a third time they fainted away, the countiers raised them and brought them out of the water, and set them upon dry ground. When they had been comforted, they all sat and weeping and wailing together. Then Prince Bharata thought, "My brother Prince Lakkhana, and my sister the Lady Sita, cannot restrain

their grief to hear of our father's death, but Rama-pandita neither wails nor weeps. I wonder what can the reason be that he grieves not? I will ask." Then he repeated the second stanza asking the question:

Say by what power thou grievest not, Rama,
when grief should be?
Though it is said thy sire is dead grief
overwhelms not thee?
Then Rama-pandita explained the reason of his
not grieving by saying.
When man can never keep a thing, though loudly
he may cry.
Why should a wise intelligence torment itself thereby?
The young in years, the older grown, the fool,
and eke the wise?
For rich for poor one end is sure, each man among
them dies.
As sure as for the ripened fruit there comes the
fear of fall.
So surely comes the fear of death to mortals one
and all.
Who in the morning light are seen by evening oft are gone.
And seen at evening time, is gone by morning many a one.
If to a fool infatuate a blessing could accrue.
When he torments himself with tears, the wise this
same would do,
By this tormenting of himself he waxes thin and pale;
This cannot bring the dead to life, and nothing tear avail.
Even as a blazing house may be put out with water, so the
strong, the wise, the intellignet, who well the scriptures know.
Scatter their grief like cotton when the stormy winds do blow.
One mortal dies—to kindred ties born is another straight.
Each creature's bliss-dependent is one ties associate.
The strong man therefore, skilled in sacred text,
Keen-contemplating this world and the next,
Knowing their nature, not by any grief,
However great, in mind and heart is vext.
So to my kindred I will give, them will I keep and feed,
All that remain I will maintain, such is the wise man's deed.
In these stanzas he explained the impermanence of things.

When the company heard this discourse of Rama-pandita, illustrating the doctrie of impermanence, they lost all their grief.

For three years the slippers ruled the kingdom. The courtiers receive the kingdom of Benaras. "Brother," said Rama, "take Lakkhana and Sita with you and administer the kingdom yourselves." "No, my lord, you take it." "Brother my father commanded me to receive the kingdom at the end of twelve years. If I go now, I shall not carry out his bidding. After three more years I will come." "Who will carry on the government all that time?" "You do it." "I will not." "Then until I come, these slippers shall do it," said Rama, and doffing his slippers of straw he gave them to his brother. So these three persons took the slippers, and bidding the wise man farewell went to Benaras with their great crowd of followers.

When the three years were over, the wise man came out of the forest, and came to Benaras, and entered the park. The princes hearing of his arrival proceeded with great company to the park, and making Sita the queen-consort, gave to them both the ceremonial sprinkling. The sprinkling thus performed, the Great Being standing in a magnificent chariot, and surrounded by a vast company, entered the city, making a solemn circuit rightwise; then mounting to the great terrace of is splendid palace. Sucandaka, he reigned there in righteousness for sixteen thousand years, and then went to swell the hosts of heaven.

स्पष्ट है कि दशरथ जातक का राम वाल्मीकि रामायण के राम से बिलकुल भिन्न है. दशरथ जातक के राम का नाम है– राम पंडित, जब कि रामायण के राम का नाम है– रामचंद्र. दशरथ जातक के राम का पिता दशरथ वाराणसी का राजा है जब कि रामायण के राम का पिता दशरथ अयोध्या का राजा है. दशरथ जातक में दशरथ की पटरानी अर्थात राम की माता की मृत्यु के बाद जो दूसरी पटरानी बनती है वह अपने पुत्र के लिए राज्य मांगती है जब कि रामायण में राम की माता उस समय जीवित दिखाई गई है. दशरथ जातक के राम और लक्ष्मण अपने प्राणों को बचाने के लिए वनों को जाते हैं जब कि रामायण का राम पिता के वचन की रक्षा के लिए त्याग भाव से जाता है. रामायण में आता है कि सीता को चुराया गया, रावण से युद्ध हुआ, रावण वध हुआ, विभीषण को लंका का राज्य दिया गया, सुग्रीव और हनुमान जैसे वानरों ने राम की सहायता की–इत्यादि. लेकिन दशरथ जातक में ऐसा कुछ भी नहीं है.

यह तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट करता है कि दशरथ जातक का राम हिंदू धर्म में पूजे जाने वाले भगवान राम से बिलकुल अलग व्यक्ति है. अतः दशरथ जातक के राम के किसी जीवन प्रसंग का उद्धरण राम को भगवान मानने वालों की धार्मिक भावना को किसी भी प्रकार ठेस नहीं पहुंचा सकता.

जातकों में आए रामसीता के विवाह प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए महापंडित

राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक आर्य' में लिखा है:

बुद्ध वचनों में इक्ष्वाकु के जैसे संभ्रात उच्च वंश में, कम से कम आपत्तिकाल में भाईबहिन के ब्याह का उल्लेख आता है. इक्ष्वाकु के चार पुत्रों ने बहिनों से शादी कर के अपने कुल को चलाया, जो शाक्य कुल के नाम से प्रसिद्ध हुआ, इक्ष्वाकु के ही दासी पुत्र, किंतु पीछे महान ऋषि कृष्ण ने भी अपनी सौतेली बहिन से ब्याह बतलाया गया है. जातकों में राम और सीता के ब्याह को भी बहिनभाई का ब्याह बतलाया गया है. इन से मालूम होता है कि अति प्राचीन काल में बहिनभाइयों का ब्याह होता था. थाई भूमि के राजवंश में अब भी यह होता है. ईरान के सासानी राजवंश में भी इसे देखा जाता था और मिश्र के फरवा भी रक्त को शुद्ध रखने के लिए ऐसा करते थे.

(राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वेदिक आर्य, सन 1957, पृ. 231-232)

ऋग्वेद के 'यमयमी सूक्त' में बहिन भाई को अपने साथ कामक्रीड़ा करने के लिए प्रेरित करती है. इस सूक्त का अर्थ प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कृत 'वेदामृत' में इस प्रकार किया गया है–

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्.
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः..

(ऋग्वेद 10-10-1, अथर्ववेद 18-1-1)

(ओ) हे पुरुष (सखायं) तुझ मित्र के प्रति (संख्या) मित्रभाव से (चित् ववृत्यां) वर्तन करूं और (पुरूचित) बहुत बड़े (अर्णवं) भवसमुद्र के (तिर:जगन्वान्) पार जाए. (वेधाः) बुद्धिमान तू (प्रतरं दीध्यानः) अधिक प्रकाशमान हो कर (अदधीत) धारण कर अर्थात पुत्र उत्पन्न कर.

यमी यम से कहती है कि मैं तेरे साथ मित्र बन कर अर्थात पत्नी बन कर रहना चाहती हूं. तू मेरे अंदर पुत्र उत्पन्न कर के अपने पिता का पौत्र उत्पन्न कर. यम और यमी जुड़वा भाईबहिन हैं, इन के संवाद से भाईबहिन का विवाह निषिद्ध ठहराया है. यह बात इस सूक्त में पाठक अवश्य देखें. नियम से चलने वाले पुरुष को यम और स्त्री को यमी कहते हैं.

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति.
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन्..

(ऋ. 10-10-2, अ. 18-1-2)

(ते सखा) तेरा मित्र (एतत् सख्यं) इस प्रकार की मित्रता (न वष्टि) नहीं चाहता. (यत्) जहां (सलक्ष्मा) समान लक्षणों वाली स्त्री भी (विषुरूपा) विरुद्ध लक्षणों वाली सी (भवाति) होती है. (महः असुरस्य वीराः) महान परमेश्वर के वीर (पुत्रासः) पुत्र जो (दिवः धर्तारः) द्युलोक के धारण करने वाले हैं वे (ऊर्विया परिख्यन्) खुली दृष्टि से देख रहे हैं.

यम कहता है कि यमी, मैं इस प्रकार की अर्थात विवाह से उत्पन्न होने वाली मित्रता नहीं चाहता कि जिस मित्रता में हम दोनों को समान लक्षण होने पर भी विरुद्ध लक्षणों से युक्त होने के समान बरताव करना पड़े. क्योंकि परमात्मा के रक्षक वीर खुली आंख से हमारा व्यवहार देख रहे हैं.

विवाह एक कुल वाले स्त्रीपुरुषों में नहीं होना चाहिए. (सात पुश्तों में एक गोत्र नहीं होना चाहिए. सगोत्र विवाह का निषेध इस मंत्र में स्पष्ट है. भाईबहिन के लक्षण समान होते हैं और विवाह भिन्न गोत्रों के स्त्रीपुरुषों में प्रशस्त होता है. इसलिए यम कहता है, हे यमी, तेरे साथ इस प्रकार की मित्रता मैं नहीं चाहता, कि जो विरुद्ध लक्षण वाले स्त्रीपुरुषों में शक्य है. हमारे सब व्यवहार परमेश्वर के दूत देखते हैं, उन से छिप कर हम कुछ भी नहीं कर सकते. इसलिए मनुष्य को ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि जो परमेश्वर के सम्मुख किया जा सके.)

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य.
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः..

(ऋ. 10-10-3, अ. 18-1-3)

(ते अमृतासः) **वे अमरदेव** (एकस्य मर्त्यस्य) **एक मनुष्य के** (एतत् त्यजसं) **इस प्रकार के त्याग को** (घा उशन्ति चित्) **निश्चय से पसंद करते हैं. इसलिए** (ते मनः) **तेरा मन** (अस्मे मनसि) **हमारे मन में** (निधायि) **मिलाया जाए और तू** (जन्युः) **पति बन कर** (तन्वं) **मुझ स्त्री के शरीर के प्रति** (अवि विश्याः) **प्रवेश कर.**

संतान उत्पत्ति के लिए जो पुरुष वीर्य का दान करता है, उस को देव भी पसंद करते हैं. इसलिए तू अपना मन मेरे मन में जमा कर अंतर गर्भ की स्थापना कर. यह यमी यम से कह रही है और उसे अपने अनुकूल बना रही है.

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम.
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ..

(ऋ. 10-10-4, अ. 18-1-4)

(पुरा) **प्राचीन काल में** (यत् न चकृमा) **जो हम ने किया नहीं,** (कत् ह नूनं) **कैसे भला अब** (तं वदन्तः) **सत्य भाषण करते हुए** (अमृतं रपेम) **असत्य व्यवहार करेंगे?** (अप्सु गन्धर्वः) **सत्कर्मरत पुरुष और** (अप्यायोषा) **सदाचारिणी स्त्री यही** (सा नौ नाभिः) **हमारा केंद्र है. और** (तत्) **यही** (नौ परमं जामि) **हमारा परम संबंध है.**

यम कहता है—इस प्रकार का व्यवहार हम ने पहले किया नहीं, इसलिए इस समय कैसे किया जा सकता है? क्या सत्य बोलते हुए असत्य व्यवहार करें? हमारी उत्पत्ति एक ही सदाचारी मातापिता से है, और इसलिए हमारा यही परम संबंध है

अर्थात हम भाईबहिन ही रहेंगे, पतिपत्नी नहीं.

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूप:.
न किरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौ:..

(ऋ. 10-10-5, अ. 18-1-5)

(जनिता) **उत्पादक** (विश्वरूप:) **सब को रूप देने वाले** (सविता त्वष्टा देव:) **सब का जनक और सब को आकार देने वाले ईश्वर ने** (गर्भे नु) **गर्भ में ही** (नौ) **हम दोनों को** (दंपती क:) **पतिपत्नी बनाया है.** (अस्य व्रतानि) **इस देव के नियमों को** (न कि: मिनन्ति) **कोई भी नहीं तोड़ सकता** (अस्य) **इस बात को पृथ्वी और द्युलोक** (वेद) **जानते हैं.**

यमी कहती है–परमेश्वर ने हम दोनों को गर्भ में ही पतिपत्नी बनाया था, नहीं तो हमें वह एक ही गर्भ में क्यों उत्पन्न करता? और तुम जानते हो कि उस के नियमों को कोई भी तोड़ नहीं सका, इसलिए तुम मेरे पति हो जाओ.

इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि यमयमी एक गर्भ से उत्पन्न हुए भाईबहिन हैं–

को अस्य वेद प्रथमस्याह्न: क: ईं ददर्श क इह प्र वोचत्.
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नृन्..

(ऋ. 10-10-6, अ. 18-1-7)

(अस्य प्रथमस्य अह्न:) **इस प्रथम दिन के संबंध में कौन जानता है?** (क: ईं ददर्श) **किस ने इस को देखा है, और** (इह क: प्र वोचत्) **यहां किस ने कहा है?** (मित्रस्य वरुणस्य धाम) **मित्र भूत श्रेष्ठ परमेश्वर का धाम** (बृहत्) **बड़ा है. हे** (आह्न:) **कामी स्त्री** (कत्) **कैसे** (वीच्या) **कपट से** (नृन् ब्रव:) **तू मनुष्यों से बोलती है?**

यम कहता है–जिस दिन गर्भधारण हुआ, उस दिन की बात किस ने देखी और किस ने यहां आ कर कही है? परमात्मा की शक्ति अगाध है, ऐसा होते हुए भी तुम पुरुषों के साथ ऐसी बातें करती हो, यह ठीक नहीं.

यमस्य मा यम्यं १ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय.
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा..

(ऋ. 10-10-7, अ. 18-1-8)

(यमस्य काम:) **यम की कामना** (समाने योनौ) **एक घर में** (सह शेय्याय) **साथ सोने के लिए** (यम्यं मा) **मुझ यमी को** (आ अगन्) **आ गई है** (पत्ये जाया इव) **पति के लिए जैसी स्त्री उस प्रकार मैं अपना** (तन्वं) **शरीर** (रिरिच्यां) **फैलाऊं और रथ के चक्रों के समान हम दोनों** (वि वृहेव चित्) **बरताव करेंगे.**

यमी कहती है–मेरे मन में मेरे भाई यम के विषय में काम वासना उत्पन्न हुई है, उस की स्त्री बन कर एकत्र विहार करने की इच्छा है. इसलिए आओ, हम दोनों मिल कर रहें और रथ के चक्रों के समान इस कुटुंब के रथों को चलाएं.

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति.
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा..

(ऋ. 10-10-8, अ. 18-1-9)

(एते देवानां स्पशः) **ये देवों के दूत जो** (इह ये चरंति) **यहां संचार करते हैं, वे** (न तिष्ठन्ति) **न ठहरते हैं, और** (न निमिषन्ति) **न आंख बंद करते हैं. इसलिए तू** (मत् अन्येन) **मेरे से भिन्न दूसरे के साथ** (दयं विवृह) **शीघ्र विहार कर.**

यम कहता है—हे कामी स्त्री, देखो कि परमेश्वर की आंखें प्रतिक्षण हमारा आचरण देख रही हैं. इसलिए मुझे छोड़ कर किसी दूसरे के साथ विवाहित हो कर उस के साथ विहार कर.

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्.
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि..

(ऋ. 10-10-9, अ. 18-1-10)

रात्रि और दिन (अस्मै) **इस को सुबुद्धि** (दशस्येत्) **दें. सूर्य का चक्षु** (मुहुः उन्मिमीयात्) **बारंबार इस की आंखें खोले** (सबंधू) **भाईबहिन रूप द्युलोक और पृथ्वीलोक ये दोनों** (मिथुना) **मिल कर रहते हैं, यह देख कर यमीयम का** (अजामि विवृहात्) **बंधुत्व रहित संबंध कर के विहार करे.**

यमी कहती है—देखो, दिन और रात, द्यु और पृथ्वी से परस्पर भाईबहिन हुए भी परस्पर संगत हुए हैं. यह देख कर तेरी आंखों में प्रकाश पड़े और उन के समान हम दोनों भाईबहिन होते हुए भी भाईबहिन का संबंध छोड़ कर परस्पर पतिपत्नी बन कर आनंद से विहार करें.

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि.
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्..

(ऋ. 10-10-10, अ. 18-1-11)

(ता उत्तरा युगानि) **वह समय भविष्य में** (घ आगच्छन) **निश्चय से आएगा, कि** (यत्र) **जिस समय** (जामयः) **भाईबहिनें** (अजामि कृण्वन्) **बंधुत्व रहित कर्म करेंगे, इसलिए किसी** (वृषभाय) **बलवान पुरुष के लिए अपने बाहु को** (उप बर्बृहि) **फैलाओ, और हे** (सुभगे) **भाग्यशालिनी, तू** (मत् अन्यं पति) **मेरे से भिन्न पति की** (इच्छस्व) **इच्छा कर.**

यम कहता है—हे यमी, इस प्रकार का समय आएगा, कि जिस समय भाईबहिन भी पतिपत्नी के अनुसार बरताव करेंगे परंतु यह समय वैसा नहीं है. इसलिए मेरे से भिन्न किसी दूसरे योग्य पुरुष का पाणिग्रहण कर.

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिनिर्गच्छात्.
काममूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि..

(ऋ. 10-10-11, अ. 18-1-12)

(किं) **क्या** (भ्राता सद्) **भाई होते हुए बहिन** (अनाथं भवति) **अनाथ जैसी होगी?** (किं) **क्या** (स्वसा) **बहिन के होते हुए भाई** (निर्ऋतिः निर्गच्छात्) **विनाश को चला जाए?** (कामं ऊता) **काम से युक्त हो कर मैं** (एतत् बह रपामि) **यह बहुत कहती हूं. इसलिए अब** (मे तन्वं) **मेरे शरीर को अपने** (तन्वा) **शरीर से** (सं पिपृग्धि) **मिला दो.**

यमी कहती है—देख, जो भाईबहिन को सनाथ नहीं बनाता, वह भाई कैसा? तथा जो बहिन अपने भाई का ही नाश करे, वह बहिन भी कैसी? कामेच्छा के कारण मैं यह बोल रही हूं, इसलिए आओ मेरे साथ मिल जाओ.

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा३सं पपृच्याम्.
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्..

(अ. 18-1-13)

हे यमी, (अहं) **मैं** (अत्र) **यहां तेरा** (नाथ न अस्मि) **नहीं हूं.** (ते तनुं) **तेरे शरीर को अपने** (तन्वा) **शरीर से** (न सं पपृच्याम्) **नहीं मिलाऊंगा. इसलिए** (मत् मन्यैन) **मेरे से भिन्न दूसरे के साथ** (प्रमुदः कल्पयस्व) **आनंद मना. हे** (सुभगे) **भाग्यवती स्त्री** (ते भ्राता) **तेरा भाई** (एतत् न वष्टि) **यह नहीं चाहता.**

यम कहता है—हे बहिन यमी, मैं तेरा नाथ नहीं हूं. इसलिए अपने शरीर से तेरे शरीर को कदापि स्पर्श नहीं करूंगा. अतः तू दूसरे किसी योग्य पति के साथ आनंद का उपभोग कर. तेरा भाई, मैं यम ऐसी बातें जो तू बोल रही है—नहीं चाहता.

न वा उ ते तन्वा तन्वं१सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्.
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय..

(ऋ. 10-10-12, अ. 18-1-14)

(ते तनूं) **तेरे शरीर को अपने** (तन्वा) **शरीर से** (वा उ) **कभी भी** (न सं पपृच्यां) **स्पर्श नहीं करूंगा,** (पापं आहुः) **उस को पापी कहते हैं, कि** (यः स्वसारं निगच्छात्) **जो बहिन के पास जाए.** (ये हृदः मनसः) **तेरे हृदय और मन में** (एतत असंयत्) **यह बात सिद्ध है कि मैं** (भ्राता) **भाई** (स्वसुः शयने) **बहिन के बिछाने पर** (शयीय) **सोऊं.**

यम कहता है—हे यमी, मैं तेरे शरीर को स्पर्श कभी नहीं करूंगा, क्योंकि भाईबहिन के पास गया तो उस को पापी कहते हैं. तेरे मन के भी यह बात विरुद्ध है, इसलिए मैं कभी बहिन के साथ सोऊंगा नहीं.

इस मंत्र में यम भाई है और इस की बहिन यमी है, यह बात स्पष्ट है.

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम.
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्..

(ऋ. 10-10-13, अ. 18-1-15)

हे यम, तू (बतः असि बत) **सचमुच निर्बल है, तेरा मन और हृदय** (नेव

अविदाम) हम ने नहीं समझा. (किल) निश्चय से दूसरी स्त्री (त्वां परि ष्वजाते) तुझे आलिंगन देगी, जिस प्रकार (कक्ष्या युक्तं इव) रस्सी जाते हुए घोड़े को और (लिबुजा वृक्ष इव) वल्लि वृक्ष को वेष्टित होती है.

यमी कहती है—हे यम, तू बड़ा ही निर्बल है, सचमुच तेरे मन की गहराई मुझे पता ही नहीं थी. तात्पर्य यह है कि दूसरी स्त्री ही तुझे आलिंगन देगी. (अस्तु)

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्.
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्..

(ऋ. 10-10-14, अ. 18-1-16)

हे यमी, तू (अन्यं सु) दूसरे पुरुष को ही मिल. दूसरा पुरुष ही तुझे (परि ष्वजाते) आलिंगन देगा, जिस प्रकार वल्लि वृक्ष के ऊपर लिपट जाती है. उस का मन (त्वं इच्छ) तू जानने की इच्छा कर, (स वा तव) तथा वह तेरे मन को जानेगा. (अध) और उस के साथ तेरी अपनी (सं विदं) संगति (सुभद्रां कृणुष्व) मंगल युक्त कर.

यम कहता है—हे यमी, तू दूसरे पुरुष के साथ मिल और वही तुझे आलिंगन देगा. उस का मन तू पहचान और तेरा मन वह जानेगा. पश्चात तुम दोनों का मिलाप दोनों को लाभकारी होगा. ऐसा व्यवहार कर.

इस संवाद में भाईबहिन का सगोत्र विवाह नहीं होना चाहिए, यह बात स्पष्टता से कही है.

(वेदामृत, पृ. 231-237)

इसी यमयमी सूक्त का प्रसिद्ध सनातनी विद्वान पंडित राम गोविंद त्रिवेदी, वेदांतशास्त्री कृत, 'हिंदी ऋग्वेद' में इस प्रकार अर्थ किया गया है—

यम और यमी वा दिन व रात्रि सहोदर हैं, यमी यम से कहती है: विस्तृत समुद्र के मध्यद्वीप में आ कर, इस निर्जन प्रदेश में, मैं तुम्हारा सहवास व मिलन चाहती हूं, क्योंकि गर्भावस्था से ही तुम मेरे साथी हो. विधाता ने मन ही मन समझा है कि तुम्हारे द्वारा मेरे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह हमारे पिता का एक श्रेष्ठ नाती होगा.

यम का उत्तर: यमी, तुम्हारा साथी यम तुम्हारे साथ ऐसा संपर्क नहीं चाहता, क्योंकि तुम सहोदरा भगिनी हो, अगंतव्या हो. यह निर्जन प्रदेश नहीं है, क्योंकि महान बलि प्रजापति के द्युलोक को धारण करने वाले वीर पुत्र (देवों के चर) सब देखते हैं.

यमी का वचन: यद्यपि मनुष्य के लिए ऐसा संसर्ग निषिद्ध है तो भी देवता लोग इच्छापूर्वक ऐसा संसर्ग करते हैं, इसलिए मेरी जैसी इच्छा होती है, वैसा तुम करो. पुत्र जन्मदाता पति के समान मेरे शरीर में बैठो—मेरा संभोग करो.

यम का उत्तर: हम ने ऐसा कर्म कभी नहीं किया. हम सत्यवक्ता हैं. कभी

मिथ्या कथन नहीं कहा है. अंतरिक्ष में स्थित गंधर्व व जल के धारक आदित्य और अंतरिक्ष में ही रहने वाली योषा (सूर्य की स्त्री सरण्यू) हमारे मातापिता हैं. इसलिए हम सहोदर बंधु हैं. अत: ऐसा संबंध उचित नहीं.

यमी की उक्ति: रूपकर्ता, शुभाशुभ–प्रेरक सर्वात्मक, दिव्य और जनक प्रजापति ने तो हमें गर्भावस्था में ही दंपती बना दिया है. प्रजापति का कर्म कोई लुप्त नहीं कर सकता. हमारे इस संबंध को द्यावापृथिवी भी जानते हैं.

यमी की उक्ति: प्रथम दिन की (संगमन की) बात कौन जानता है? किस ने उसे देखा है? किस ने उस का प्रकाश किया है? मित्र और वरुण का यह जो महान धाम (अहोरात्र) है, उस के बारे में, हे मोक्ष बंधन कर्ता यम, तुम क्या कहते हो?

जैसे एक शय्या पर पत्नीपति के पास अपनी देह का उद्घाटन करती है, वैसे ही तुम्हारे पास यम, मैं अपने शरीर को प्रकाशित कर देती हूं. तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो. आओ, एक स्थान पर दोनों शयन करें. रथ के दोनों चक्कों के समान हम एक कार्य में प्रवृत्त हों.

यम की उक्ति: देवों के जो गुप्तचर हैं वे दिनरात विचरण करते हैं, उन की आंखें कभी बंद नहीं होतीं. दुखदायिनी यमी, शीघ्र दूसरे के पास जाओ और रथ के चक्कों के समान उस के साथ एक कार्य करो.

दिनरात में यम के लिए जो कल्पित भाग है, उसे यजमान दें, सूर्य का तेज यम के लिए उचित हो. परस्पर संबद्ध दिन द्युलोक और भूलोक यम के बंधु हैं. यमयमी, भ्राता के अतिरिक्त अन्य पुरुष को धारण करें.

भविष्य में ऐसा युग आएगा, जिस में भगिनियां अपने बंधुत्व विहीन भ्राता को पति बनाएंगी, सुंदरी, मुझे छोड़ कर दूसरे को पति बनाओ. वह जिस समय वीर्य सिंचन करेगा, उस समय उसे बाहुओं में आलिंगित करना.

यमी की उक्ति: वह कैसा भ्राता है, जिस के रहते भगिनी अनाथ हो जाए और वह भगिनी ही क्या है, जिस के रहते भ्राता का दुख दूर न हो? मैं काम मूर्च्छिता हो कर नाना प्रकार से बोल रही हूं, यह विचार कर के मुझे भलीभांति भोगो.

यम की उक्ति: यमी, मैं तुम्हारे शरीर से अपने शरीर को मिलाना नहीं चाहता. जो भ्राता भगिनी का संभोग करता है, उसे लोग पापी कहते हैं, सुंदरी, मुझे छोड़ कर अन्य पुरुष के साथ आमोदआह्लाद करो. तुम्हारा भ्राता तुम्हारे साथ मैथुन करना नहीं चाहता.

यमी का कथन: हाय यम, तुम दुर्बल हो. दुर्बलता तुम्हारे मन और हृदय को बांधती है और जैसे लता वृक्ष का आलिंगन करती है, वैसे ही अन्य स्त्री तुम्हें अनायास आलिंगित करती है, परंतु मुझे तुम नहीं चाहते हो.

यम का वचन: यमी, तुम अन्य पुरुष का भलीभांति आलिंगन करो. जैसे लता वृक्ष का वेष्टन करती है, वैसे ही अन्य पुरुष तुम्हें आलिंगित करे. उसी का मन तुम हरण करो. वह भी तुम्हारे मन का हरण करे. अपने सहवास का प्रबंध उसी के

साथ करो. इसी में मंगल होगा.

('हिंदी ऋग्वेद', पंडित रामगोविंद त्रिवेदी वेदांतशास्त्री 1954 ई., पृ. 1221 से 1223)

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक आर्य' में 'यमयमी संवाद' को इस प्रकार उद्धृत किया है:-

यम: आगे वे युग आएंगे, (जब) भगिनियां अभगिनी का काम करेंगी (किसी) दूसरे वृषभ (संड-मुसंड) की बाहु का आलिंगन करो. हे सुभगे, मुझ से अन्य को (अपना) पति बनाओ.

यमी: भाई के होते यदि बहिन अनाथ हो, तो वह भाई ही क्या? वह बहिन क्या, जिस के रहते भाई दुख पाए. कामवश हो मैं बहुत कुछ कह रही हूं. (अपने) शरीर से मेरे शरीर को तृप्त करो.

यम: मैं अपने शरीर से तेरे शरीर को नहीं स्पर्श करता. बहिन के (साथ) अभिगमन को पाप कहते हैं. व मुझ से भिन्न से तू प्रमोद प्राप्त कर हे सुभगे, तेरा भाई यह नहीं (करना) चाहता.

यमी: मुझे यम, अफसोस है मैं तेरे मन और हृदय को नहीं समझ सकती. वृक्ष को लता की तरह (या) रस्सी की तरह मिल कर दूसरी स्त्री (या) तेरा आलिंगन करती है.

यम: हे यमी, दूसरे की कामना करो, दूसरा (कोई) तुझे वृक्ष को लता की तरह आलिंगन करे. उस के मन को तू चाहे या वह तुझे, मंगलमय संयोग तुझ से करे.

(राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वेदिक आर्य, सन 1957, पृ. 230-231)

वेदों के प्रसिद्ध जर्मन ज्ञाता एम. विंटरनिट्ज, पीएच. डी. अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास' (जर्मन भाषा से अनूदित) द्वितीय संस्करण सन 1975, पृ. 76-77-78 पर यमयमी से संबंधित मंत्रों के अर्थ करते हुए लिखते हैं-

यमी यम से कहती है-

निकट स्वकीय सखा को लाऊंगी कर सख्यप्रेम, मनुहार
चला जाएगा यदि वह भाग कर दूर सिंधु को भी कर पार.
जिस से वह बन कर निर्माता करे प्राप्त इस पृथ्वी पर
स्वपिता के लिए पौत्र, भविष्य का कर मन में सुष्ठु विचार..

(10-10-1)

यम इस का उत्तर देता है-

बहिन यमी, तेरा सखा सख्य यह न चाहता
है जो कि सगोत्र पराया होता है वह जन.
सबल, असुर के पुत्र वीर वे हैं द्युलोकधर

देख रहे हैं सब के सब वे कोटिविलोचन..

(10-10-2)

यमी अपने भाई को मनाने का प्रयत्न करती है और कहती है कि स्वयं देवताओं की इच्छा है वह (यम) उस से समागम करे जिस से उस का वंश चले. जब यम मानता ही नहीं, यमी का आग्रह और आवेश बढ़ता जाता है–

मैं यमी काम से ग्रस्त हुई हूं यम के प्रति
शयन के हेतु उस के संग एक शय्या पर.
उस के साथ मिलूंगी जैसे जाया पति को
रथचक्र सदृश मिलें परस्पर बढ़ कर द्रुततर..

(10-10-7)

परंतु यम फिर इनकार करता है–

न वे ठहरते, न वे झपाते अपनी पलकें
घूम रहे चहुं दिशि देवों के हैं ये जो चर.
मुझे छोड़ कर किसी अन्य के संग द्रुत स्वैरिणी
रथचक्र सदृश द्रुत गति से जा, कर प्रेमाचार..

(10-10-8)

बहिन का तूफानी आवेश बढ़ता ही जाता है, यम के आगोश में बंधने की इच्छा तीव्र होती जाती है और यम पुनःपुनः इनकार करता है, तब वह फूट पड़ती है–

ओह, वस्तुतः यम तू बिलकुल शक्तिहीन है
हम ने जान लिया है तेरा मन और हृदय.
कोई अन्य करेगी तब आश्लेष, करधनी
कटि में जैसे, जैसे लता वृक्ष का करे वलय..

(10-10-13)

इस पर यम शब्दों से संवाद को समाप्त करता है–

किसी अन्य का आश्लेष यमी तू कर, जैसे
लता वृक्ष का करती, तब मन उस को चाहे.
वह तव मन को, हो परस्पर सुभद्र संविदा.
(हम भाईबहिन, एक, पर अलगअलग रहें)

(10-10-14)

यम और यमी की कथा का अंत क्या हुआ, हम नहीं जानते, परवर्ती साहित्य में इस के विषय में कुछ उपलब्ध नहीं होता. इस प्रकार ऋग्वेद की यह कविता दुर्भाग्य से अधूरी है, पर ऐसी अधूरी कविता जो कला का अत्युत्कृष्ट नमूना है.

प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान स्व. पंडित शिवशंकर काव्यतीर्थ ने अपनी पुस्तक वैदिक इतिहासार्थ निर्णय (द्वितीय संस्करण, सन 1965) (पृ. 585 से 595) में यमयमी से संबंधित मंत्रों के अर्थ इस प्रकार किए हैं.

यम से यमी कहती है, "हे यम, विस्तीर्ण सुंदर समुद्रमध्यवर्ती इस निर्जन स्थान में आई हुई मैं यमी तेरा उत्तम मैत्री के लिए वरण करती हूं, क्योंकि तू मेरा गर्भ से ही सहचर है अर्थात यदि तेरी इच्छा हो तो मैं इस निर्जन स्थान में तुझे अपना सखा अर्थात सहचर बनाऊं. अपने द्वारा मेरे उदर में प्रजापति मेरे पिता का नप्ता अर्थात दौहित्र स्थापित करो. इस पृथ्वी पर प्रकृष्ट तेज को लक्ष्य रख कर यह प्रजापति इस शुभ कार्य के लिए आज्ञा दें."

(10-10-1)

यमी से यम कहता है, "हे यमी, तेरा यह गर्भ सहचर तेरे साथ इस प्रकार की मैत्री करना नहीं चाहता. क्योंकि सहोदरा भगिनी विषमरूपा अर्थात अगम्या होती है और जो तू कहती है कि यह निर्जन स्थान है. सो तेरा कथन ठीक नहीं. देख! महान और परम बलधारी परमात्मा के पुत्र ये सूर्य, चंद्र, तारा, पृथ्वी, वायु आदि चारों तरफ विस्तीर्ण हो इस दुष्कर्म को मना कर रहे हैं. ये ईश्वरीय पुत्र बड़ेबड़े वीर हैं. दुष्टों का सदा निवारण करते रहते हैं. ये हम दोनों को दुराचार में प्रवृत्त देख अवश्य दंड देंगे क्योंकि ये वीर हैं और न्याय रूपी ज्ञान के प्रकाश को धारण करने वाले हैं. इन के रहते हुए कौन ज्ञानी दुराचार में प्रवृत्त हो सकता है? तू इन को नहीं देखती. परंतु मैं देख रहा हूं. अतः तेरे साथ मैं ऐसी मैत्री नहीं करूंगा."

(10-10-2)

यम से यमी कहती है, "हे यम, यदि इस एक मनुष्य जाति का यह कर्म त्याज्य हो तो क्या हुआ. भले ही मनुष्य जाति में भ्राताभगिनी का विवाह निषिद्ध हो परंतु ये देवगण निश्चय ही इस की कामना करते हैं अर्थात देवगण के मध्य भाईभगिनी का प्रेम निषिद्ध नहीं, सूर्य, चंद्र, पृथ्वी आदि अमृत कहलाते हैं. इन में भी नियम नहीं. मनुष्य में ही यह नियम है. यमी कहती है कि हम दोनों देव हैं. अतः हमारे लिए निषेध नहीं. इस कारण हे यम, मेरे चित में तू अपना मन धारण कर और पुत्र जन्मदाता पति के समान तू मेरे तनु (शरीर) में प्रवेश कर."

(10-10-3)

यमी से यम कहता है, "हे यमी, जिस कर्म को हम सब ने पूर्व में कभी नहीं किया आज उसे कैसे करें? निश्चय ही हम सब सत्य भाषण और सत्य व्यवहार करने वाले हो कर कब अनृत, मिथ्या, असत्य भाषण और व्यवहार करेंगे. अतः हे यमी, यह तेरा व्यवहार सर्वथा अनुचित है और भी देख. तेरे पितामाता कितने उच्च हैं. आकाश में किरणों के धारण करने वाले सूर्य और अंतरिक्षस्था परम मान्या परम प्रसिद्ध वह सरण्यू हम दोनों के नाभि अर्थात पितामाता हैं. इस कारण

हम दोनों का परम उत्कृष्ट संबंध है. इस हेतु हम दोनों के लिए यह कर्म अनुचित है. हे यमी, तू अपना कुल और परिवार देख. इस हठ से निवृत्त हो जा."

(10-10-4)

यम से यमी कहती है, "हे यम, हम दोनों को निश्चय ही पिता सूर्य ने गर्भ में ही पति और पत्नी बनाया है जो हमारा देदीप्यमान, सर्वरूपकर्ता, शुभाशुभ प्रेरक और विश्वरूपप्रद है. जब ऐसे पिता ने हम दोनों को पति और पत्नी बनाया है तो हम दोनों के संगम से दोष क्या? हे यम, इस पिता के नियमों को कौन तोड़ सकता है? हम दोनों के इस संबंध को पृथ्वी और आकाश दोनों जानते हैं."

(10-10-5)

यम से यमी कहती है, "हे यम, (प्रथम दिन इस को कौन जानता है–यहां कौन देखता है? यहां इस को कौन प्रख्यात करेगा?) हे यम, आप जो कहते हैं कि ये सूर्य, चंद्रादिक देव हमारे बुरे कर्म को देखेंगे सो यह शंका आप को न हो. क्योंकि सूर्य और चंद्र अथवा दिन और रात्रि यद्वा, द्युलोक और पृथ्वीलोक यद्वा, मातृपितृ, भूत, परमात्मा इन सब का धाम बहुत विस्तृत है. ये यहां नहीं होंगे. अतः संगम में कोई बाधा नहीं, हे सर्वप्राणी हननकर्ता यम, मनुष्यों को देख यह आप क्या कर रहे हैं. अर्थात मानुष नियम का आप क्यों पालन करना चाहते हैं?"

(10-10-6)

पुनः यमी यम से कहती है, "हे यम, (तुझ यम की ओर से मुझ यमी को यह अभिलाषा प्राप्त हुई है. एक स्थान में सहवासार्थ यह काम चेष्टा प्राप्त हुई है. इस कारण पतिपत्नी के समान मैं अपना तनु आप के निकट समर्पित करूं. रथ चक्र के समान हम दोनों सम्मिलित हों.)"

(10-10-7)

यम कहता है, "हे यमि, देख, देवों के जो ये (सूर्य, चंद्र, अहोरात्र आदि के) दूत यहां विचरते हैं ये न कहीं एक स्थान में खड़े होते हैं और न पलक लेते अर्थात न किसी समय पलक बंद करते हैं. अतः हे मेरे शुभकर्मनाश करने वाली यमी, तू मुझ से किसी अन्य पुरुष से शीघ्र जा संगम कर अर्थात मुझ को त्याग किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह कर. रथ चक्र के समान दोनों मिल कर उद्यम करो."

(10-10-8)

यमी कहती है, रात्रियों और दिनों के साथ सूर्य की आंख इस यम को कुशल दान दे और बारंबार यम के निकट उदित हों. द्युलोक और पृथिवी ये युगल जोड़ी समान बंधु बने रहे. यम के अभ्रातृयोग्य अर्थात पतियोग्य कार्य को यमी धारण करे. इस का भाव यह है कि यम अनेक दोष दिखलाता है. इस पर यमी कहती है, "हे यम, यदि तू दोष देख रहा है तो ये सब अपराध मुझ में आएं. तू निर्दोष रह. मैं आशीर्वाद देती हूं कि तुझ से तेरा पिता सूर्य लज्जित न हो. पृथिवी और द्युलोक

लज्जित न हों एवं तू मत घबरा, मैं तेरे अजामित्व का ग्रहण करती हूं इस समय से तुझ को भ्राता न समझ कर मैं अपना पति समझूंगी, तू मत डर. जो दोष होगा वह मेरा."

(10-10-9)

यम कहता है, "वे उत्तर युग आएंगे जब बहिनें भ्राता को अजामि अर्थात पति बनाएंगी. इस कारण हे यमी, तू मुझ को त्याग अन्य पति की इच्छा कर. तब उस स्वामी के लिए निज बाहु का उपबर्हण अर्थात तकिया बना."

(10-10-10)

यमी कहती है, "हे यम, वह क्या भाई है? अर्थात वह भाई नहीं है जिस के रहते हुए भगिनी आदि अनाथवत हो जाती है. और वह बहिन क्या है? जिस के रहते हुए भाई को दुख प्राप्त हो. इस हेतु इन दोनों में किसी उपाय से अवश्य प्रीति होनी चाहिए. हे यम, इस कारण मैं कामाभिभूता, काममूर्च्छिता हो के सब बकती हूं. इस मेरे शरीर के साथ तू अपना शरीर सम्मिलित कर."

(10-10-11)

यम कहता है, "हे यमी, तेरे तनु के साथ मैं अपने तनु का कभी भी संसर्ग न करूंगा. क्योंकि जो अधम पुरुष भगिनी से संगम करता है उस को सब कोई पापिष्ठ कहते हैं. यह जान कर मुझे छोड़ किसी अन्य पुरुष के साथ आमोदप्रमोद कर. हे यमी, तेरा भ्राता यह अकर्म करना नहीं चाहता."

(10-10-12)

"हे यम, बहुत खेद की बात है. तू बहुत दुर्बल पुरुष है. यम, तेरा मन और हृदय मैं नहीं जानती. निश्चय ही अन्य कोई स्त्री तुझ को आलिंगन करेगी. यहां जैसे रस्सी घोड़े से दृढ़तया लिपट जाती है, जैसे लता निकटस्थ वृक्ष से लिपट जाती है वैसे ही अन्य कोई स्त्री तुझ से लिपटेगी. मेरा भाग्य नहीं."

(10-10-13)

पुनः यम कहता है, "हे यमी, अन्य ही पुरुष में लिपट और अन्य ही पुरुष तुझ में लिपटे. जैसे लता वृक्ष में चिपकती है, तद्वत तू किसी अन्य पुरुष के साथ संसर्ग कर. उस के मन की तू इच्छा कर अर्थात तू उस की वशवर्त्तिन हो और वह तेरी कामना करे. अर्थात तेरा वशवर्त्ती हो. इस प्रकार तदनंतर सुंदर संभोग कर."

(10-10-14)

While writing on the Yam-Yami Sukta, Dr. C. Kunhan Raja, Ph.D (Oxon) writes in his book *"The Quintessence of the Rig Veda"*, as under—

"There are, however, two poems in which love is the direct theme.

In both of them we find the feelings of the heart of the one who is stricken with love when the longings of the that loving heart are not satisfied. In one of them, Yami approaches Yama with solicitations of love, inviting him to have conjugal enjoyment with her, but Yama refuses to submit to her approaches (X-10). In the other Urvashi abandons her husband Pururavas, and the latter appeals to her to remain with him."

Yama is the brother and Yami is the sister. Yama must have been a king and incharge of maintaining the standards of moral life; he could not betray his own trust. (Page 77)

It was not any sentimental fear that prevented him from responding to the feelings of Yama; he had a sense of duty and he could not be false to what was placed under his charge. Such a union is against the accepted canons of pure life in society and he, as a king, has to see to it that no one violates the law; and he could not himself violate it.

Yami says: "I would eagerly draw to a solitary place, my companion for the sake of companionship. I will go to the vast ocean. The Creator has created a son of my own father on this earth who shines very resplendently." (1)

Yama replies: "Your companion does not desire this companionship. It will be a very clear thing to be marked and it will also be different from the normal in its form. The great and heroic sons of the powerful god who are the supporters of heaven looking on with a wide view." (2)

Yami pleads; "This is only a lapse on the part of a single mortal, and that is approved by the gods. Place your heart in my heart. Let the body of the husband unite with the body of the wife. (3)

Yama continues his objection. "How can we do what we have not done on a prior occasion? We will be talking about moral law and we will be doing what is contrary to that law at the same time. The Demi-god of the Gandhrava clan in the water and the water-nymph are our origins. We are relatives too close for such a union." (4)

The Gandhravas are a kind of demi-gods and they reside in the waters; the nymphs of the waters are the celestial beings called the Apsaras. They were born of such an Apsra, and being brother and sister they shall not have such a union. They will be doing exactly the opposite of what they talk about.

But Yami has her own arguments. "The father made us the common masters of a home when we were in the womb. It has been done by the god Tvashtar and by the Sun-god with manifold forms. No one will be violating his ordinances. The earth and the heaven know it as belonging to him." (5)

"Who will know this that has been done for the first time on this day? Who will see this, who will talk about it? The abode of the gods Mitra and Varuna is very vast. Will you talk about this to the people, O unfaithful man?" (6) (7)

Usually the dialogue is in the form of each verse being the words of the two persons alternatively. Therefore this verse must be the words of Yama. But the ancient tradition is that these are the words of Yami in continuation of the previous verse. However, modern scholars take them as the words of Yama, the order being the each verse contains the words of one or the other of the two persons in trun. The meaning seems to be more suitable as the words of Yami. I explain it in that way. Mitra and Varuna are the guardians of the Moral Law. Their domain is so very vast that one can hide oneself in some corner or other. The only way in which the secret could leak out would be if Yama himself revealed it to Man, and that would make him unfaithful to their mutual trust. She had already said that what they would be doing went against any law, they could keep their act secret without anyone knowing about it, provided Yama would be faithful. She continues:

"A love for Yama has taken hold of me, so that we may lie down together on a common bed. I will surrender my body to you as a wife surenders her body to her husband. Let us join ourselves to each other like the two wheels of a chariot." (7)

Yama gives the warning: "The spies of the gods who wander about here do not halt anywhere, they do not close their eyes. O, you unfaithful one, you may go soon to some one other than myself. Join yourself with him like the wheels of a chariot." (8)

This is in reply to Yami's pleading that they could escape detection in so far as the world is too vast for even the gods to discover them; they could hide themselves somewhere in a corner. Yama continues:

"By nights and by days, they will be casting their eyes on us. The eye of the sun will again and again open. Yami will be bearing to Yama a relation that is unbecoming of family relatives, being a pair and belonging to a common family, loving in the heaven and on the earth." (9)

This verse is given in ancient tradition as the words of Yama. That is against the order in which the verses are distributed between the two speakers in the dialogue; modern scholars follow this order and assign the verse to Yami. Here also I feel that the meaning fits in better with the words of Yama than of Yami. I follow the tradition. Yama still continues.

"May be that some periods may come later on when such family relatives will do what is unbecoming of such family relatives. You may

stretch out your arms towards another man, who will also be strong. I want you to desire some one other than myself as your husband." (10)

Now Yami takes up a new point in her argument. She drops the issue of Moral Laws and introduces some human element in support of her approaches.

"Is he a brother if the sister should be left without a lord? Is she a sister when the brother is left in grief? I talk so much because I overcome with love. I request you to unite your body with my body." (11)

Yama replies: "I shall not unite my body with your body. If one should go to his own sister in this way, they call him a sinner. Secure all your joys along with someone other than myself O fortunate one, your brother does not like this act." (12)

"O Yama, what a pity it is; you seem to be impotent. I do not understand either your mind or your heart. Perhaps you like a strap on the body of the horse, like a creeper winding round a tree." (13)

Yama gives his final reply, refusing to submit to her solicitations:

"You will embrace someone else and someone else will embrace you, like a creeper winding round a tree, O Yami May you long for his loving heart and may he too, in his turn, long for your loving heart. Then, create such a mutual understanding which will bring about great happiness," (14)

While discussing the Yam-Yami Sukta of the Rigveda a famous Sanskrit, critic, Dr S.K. De wrote in his book *"Ancient Indian Erotic & literature"* as follows:

SANSKRIT EROTIC LITERATURE

The other passionate poem in the Rigveda is the dialogue of Yama and Yami in R.g.v.x.10 There can be no doubt that the ancient myth of the descent of the human race from primeval twins underlies the conversation and explains Yami's attempt, fruitless so far as the hymn goes, to impel her brother Yama to accept and make fruitful her proffered love; yet the poet, with a more refined sentiment than the legend itself, is apparently uneasy regarding this primitive incest and tries to clear Yama of the guilt. In ardent words the sister endeavours to win the brother's love persuading him that the gods themselves desire that he should unite himself with her in order that the human race may not die out.

I, Yami, am possessed by love of Yama,
That I may rest on the same couch beside him.
I as a wife would yield me to my husband,

Like cart wheels let us speed in the same task.

But Yama repulses her advances as a sin which the ever watchful gods would condemn.

They stand not still, they never close their eyelids,
Those sentinels of gods who wander round us.
Not me go quickly wanton, with another,
Whirl round with him like the wheel of a chariot.

To which she replies with more passion than reason:

Is he a brother when she hath no lord.
Is she a sister when destruction cometh:
Forced by my love these many words I utter
Come near me and hold me in the close embrace.

And on his repeated refusal she bursts forth:
Alas thou art indeed a weakling Yams:
We find in thee no trace of heart or spirit.
As round the tree the woodbine clings,
Another and not I girdle like will cling round thee.

Here the hymn ends. This poem, as well as the one noted above, is unfortunately a torso, which gives evidence of direct and forceful expression. Both give expression to the direct yearnings of fruitless love, and both draw upon legendary popular material, which was probably not on a level with the higher ethical standard of the Rig-vedic poet. Modern taste may be equally fastidious but both deserve praise as the first known love-poems in world literature.

शिव जी का माता से विवाह

स्वामी दयानंद कृत 'सत्यार्थप्रकाश' में उक्त संदर्भ के विषय में इस प्रकार लिखा है, 'देवी भागवत' में 'श्री नामा' एक देवी स्त्री जो श्रीपुर की स्वामिनी लिखी है, उसी ने सब जगत को बनाया और ब्रह्मा, विष्णु, महादेव को भी उसी ने रचा. जब उस देवी की इच्छा हुई, तब उस ने अपना हाथ घिसा. उस के हाथ में एक छाला हुआ. उस में से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, उस से देवी ने कहा कि तू मुझ से विवाह कर. ब्रह्मा ने कहा कि तू मेरी माता है. मैं तुझ से विवाह नहीं कर सकता. ऐसा सुन कर माता को क्रोध चढ़ा, और उस ने लड़के को भस्म कर दिया.

फिर हाथ घिस कर उसी प्रकार दूसरा लड़का उत्पन्न किया. उस का नाम विष्णु रखा. उस से भी उसी प्रकार कहा. उस ने भी न माना तो उसे भी भस्म कर दिया. पुनः उसी प्रकार तीसरे लड़के को उत्पन्न किया. उस का नाम महादेव रखा और उस से कहा कि तू मुझ से विवाह कर. महादेव बोला कि मैं तुझ से विवाह

नहीं कर सकता. तू दूसरी स्त्री का शरीर धारण कर. देवी ने वैसा ही किया. महादेव बोला कि यह दो ठिकाने राख सी क्या पड़ी है? देवी ने कहा ये दोनों तेरे भाई हैं. इन्होंने मेरी आज्ञा नहीं मानी इसलिए दोनों भस्म कर दिए गए. महादेव ने कहा कि मैं अकेला क्या करूंगा? इन को जिला दे और दो स्त्री और उत्पन्न कर. तीनों का विवाह तीनों से होगा. ऐसा ही देवी ने किया. फिर उन तीन स्त्रियों का तीनों के साथ विवाह हुआ.

(सत्यार्थप्रकाश, आर्यसमाज शताब्दी संस्करण, द्वितीय संस्करण 2000, वि. स. 2032, ई. सन 1975, पृ. 470-471)

महादेव शिव जी को कहते हैं. इस कहानी से दो बातें स्पष्ट हैं कि–

1. शिव जी ने अपनी माता से विवाह किया.
2. ब्रह्मा और विष्णु को इसलिए राख बना दिया गया क्योंकि उन्होंने माता से विवाह करने से इनकार कर दिया.

अन्य पुराणों में इस घटना के विषय में कुछ भिन्न तरह से लिखा गया है. भविष्य पुराण प्रतिसर्ग खं. 4 अ. 18 में लिखा है कि ब्रह्मा ने अपनी पुत्री को, विष्णु ने अपनी माता को और शिव ने अपनी बहिन को पत्नी बनाया.

मां, बेटी और बहिन से विवाह का उल्लेख 'भविष्य पुराण' में आता है, जो निम्नलिखित है–

बहिन, बेटी और मां से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव का विवाह

चतुर्था प्रकृतिदेवी गुण भिन्ना गुणेकिका.
एका सा प्रकृतिर्माता गुणसाम्यात्सनातनी..(23)

सत्वभूता च भगिनी रजोभूता च गेहिनी.
तमोभूता च सा कन्या तस्यै देव्यै नमोनमः..(24)

बहवः पुरुषाः ये वै निर्गुणाश्चैकरूपिणः.
चैतन्या ज्ञानवन्तश्च लोके प्रकृतिसम्भवाः..(25)

अलोके पापजाः सर्वे देवब्रह्मसमुद्भवाः.
या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद्यं पुरुष शुभम्.
कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता सच तस्याः पतिभवेत्..(26)

स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्.
भगिनीभगवांछम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्..(27)

(भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग खं. 4, अ. 18)

इस का अर्थ करते हुए सनातनी विद्वान पं. माधवाचार्य ने अपनी पुस्तक 'पुराण दिग्दर्शन' में लिखा है–

प्रकृति देवी चार प्रकार की है, पहले उस में दो भेद हैं, प्रथम वह प्रकृति

है कि जिस में रज, सत्व, तम इन तीनों गुणों के पृथक भेद दीख पड़ते हों. इसे 'गुण-भिन्ना प्रकृति' कहते हैं. प्रकृति का दूसरा भेद वह है कि जिस में उक्त तीनों गुण समान रूप से रहते हों, उसे 'गुणैकिका प्रकृति' कहते हैं. सो रज, सत्व, तम इन तीनों गुणों का साम्यावस्था से संपन्न, सनातनी प्रकृति का नाम ही 'माता है'. (23) सत्व प्रधान प्रकृति को 'बहिन' कहते हैं. रजोगुणप्रधान प्रकृति का नाम 'भार्या' है और तमोगुण प्रधान प्रकृति को 'कन्या' माना जाता है–ऐसी चतुर्विधरूपसंयुक्त प्रकृति देवी को नमस्कार हो. (24) पूर्वोक्त चतुर्विध प्रकृति से चार प्रकार के ही जीव उत्पन्न हुए, जैसे बहुत से जीव तो निर्गुण एवं एक रूपी (निर्विकार) हैं. (यह दशा उद्भिज्जों अर्थात पेड़पौधों में लक्षित होती है) जो साम्यावस्थापन्न 'गुणैकिका' प्रकृति से प्रादुर्भूत हुए हैं. दूसरे जीव चैतन्य हैं. (यथा–देवता आदि) जो सत्वप्रधान 'गुण भिन्न' प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं. तीसरे जीव अज्ञान वाले हैं (यथा मनुष्य) जो रज प्रधान 'गुण भिन्न' प्रकृति से बने हैं. (25) चौथे जीव पापज कहे जाते हैं (जैसे– पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि) जो तम प्रधान 'गुणभिन्ना' प्रकृति से रचे गए हैं. इस तरह ये सब चार प्रकार के जीव ब्रह्मदेव ने 'आलोक' भुवनत्रय की रचना व्यवस्था से पूर्व काल में बनाए. जो ज्ञानमयी नारी–प्रकृति देवी है वह (ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों में से) जिस पुरुष को वरना चाहे, वह कोई भी–बेटा, बाप और भाई क्यों न हो, वही उस का पति हो जाता है. (26) (तदनुसार) ब्रह्मा जी ने अपनी सुता (तमः प्रधान 'गुणभिन्न' प्रकृति) को विष्णुदेव ने अपनी माता (साम्यावस्थापन्न 'गुणाभिन्न' प्रकृति) को और भगवान शंभु ने अपनी भगिनी (सत्वगुण प्रधाना 'गुणभिन्ना' प्रकृति) को भार्या (रजोगुण प्रधान्येन कार्यकारण पुरस्सर प्रपंच रचनाक्षमतायुक्त) बना कर श्रेष्ठ पद को प्राप्त किया. (27)

(पंडित माधवाचार्य कृत 'पुराण दिग्दर्शन', पृ. 404-405, 1933 ई. से उद्धृत)

सरस्वती आश्रम लाहौर (मुद्रक–पंडित महावीर प्रसाद, विद्या प्रकाश प्रेस, चंगड़ मुहल्ला, लाहौर) से विभाजन पूर्व छपी 'भविष्य पुराण की आलोचना' नामक पुस्तक के पृ. 51-52 पर इस प्रसंग को निम्नलिखितानुसार अंकित किया गया है:

सूर्य का भतीजी से विवाह

संगति– विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा थी. जब वह युवा हुई तब उस के पिता ने उस का स्वयंवर रचा. बहुत से राजा, दैत्यदेवता आए. उन में से बलि दैत्य जबरदस्ती पकड़ कर संज्ञा को ले चला. तब बड़ा भारी युद्ध हुआ. सूर्य ने जो विश्वकर्मा का भाई था, संज्ञा को बलि से छीन कर वापस विश्वकर्मा को दे दिया. तब संज्ञा बोली–

मूल–

विवस्वतं सुर श्रेष्ठ दृष्ट्वा संज्ञा वचो ब्रवीत्.
ममपतिश्च भवान् देवो भवेत् कार्यकरस्सदा..(21)
त्वया जिताऽहं भगवन् बलेविर्प्रियकारिणी:.
भ्रातृजा ग्रहणे दोषो न भवेत्स कदाचन..(22)
या तु ज्ञानमयी नारी वृणेदयं पुरुषं शुभम्.
कोऽपि पुत्र: पिता भ्राता स च तस्या: पतिर्भवेत..(26)
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णु देव: स्वमातरम्.
भगिनीं भगवांछम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्..(27)
इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादिति संभव:.
विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्..(28)

(प्रतिसर्ग पर्व 3, खंड 4, अध्याय 18)

भाषार्थ– देवताओं में श्रेष्ठ सूर्य को देख कर संज्ञा बोली– आप ही मेरे पतिदेव तथा सदा कार्य करने वाले होइए. (21) हे भगवन्, आप ने ही दुष्ट बलि दैत्य से मुझ को जीता है. भतीजी के ग्रहण करने में कभी भी दोष नहीं होता. (22) जो स्त्री ज्ञानवती हो, वह जिस शुभ लक्षण पुरुष को वर स्वीकार करे, चाहे वह उस का पुत्र, पिता, भाई ही क्यों न हो वह उस का पति हो सकता है. (26) ब्रह्मा अपनी पुत्री को, विष्णु अपनी माता को तथा भगवान शंभु अपनी भगिनी को ग्रहण कर के श्रेष्ठता को प्राप्त हो गए. (27) अदिति के पुत्र सूर्य वेदानुकूल यह वाक्य सुन कर अपनी भतीजी संज्ञा को ग्रहण कर के श्रेष्ठ पदवी को प्राप्त हो गए. (28)

आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य डा. श्री राम आर्य ने अपनी पुस्तिका 'पौराणिक गप्प दीपिका' (प्रकाशन सन् 1975 के पृ. 6 पर 'मां, बहिन, भाई व बेटी के विवाह की आज्ञा' के संबंध में इस प्रकार लिखा है:)

मूल–

या तु ज्ञानमयी नारी वृणेदयं पुरुषं शुभम्.
कोऽपि पुत्र: पिता भ्राता स च तस्या: पतिर्भवेत्..(26)
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णु देव: स्वमातरम्.
भगिनीं भगवांछम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्.. (27)
इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादिति संभव:.
विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्..(28)

(भविष्य पुराण प्रतिसर्ग खंड, 4 अध्याय 18-26-28)

अर्थ– जो ज्ञान वाली (पढ़ीलिखी पौराणिक) स्त्री हो, वह चाहे किसी भी शुभ पुरुष को वर ले. वह चाहे उस का पुत्र, पिता व भाई क्यों न लगता हो, वही उस का पति बन जाता है. ब्रह्मा जी ने अपनी पुत्री को, विष्णु जी ने अपनी मां को तथा महादेव जी ने अपनी बहिन को पत्नी ग्रहण कर के श्रेष्ठता प्राप्त की और इस ज्ञान की बात को सुन कर सूर्य भगवान ने अपनी भतीजी से विवाह कर श्रेष्ठता को प्राप्त किया.

समीक्षा–सनातन धर्म की उपरोक्त प्रथा चाहे आजकल के आर्यसमाज विरोधी पौराणिक पंडितों एवं उन के भक्तों में भले ही आदर्श रूप में चालू हो और चाहे वे इस के अनुसार अपने परिवार में मां, बहिन, बेटी आदि से विवाह कर अपने को परम श्रेष्ठ समझते हों, पर दुनिया तो इस गंदी प्रथा के मानने वालों पर सौसौ बार थूकेगी. ऐसी गंदी प्रथा तो जंगली लोगों में भी नहीं है. यदि यही सनातन धर्म है, तो फिर नीच व पिशाचों का धर्म कौन सा होगा? क्या सनातनी देवता इतने पतित थे कि उन्होंने अपनी बेटी, बहिन, मां व भतीजी को भी नहीं छोड़ा? यदि ऐसे कुकर्मी भी देवता माने जा सकते हैं तो फिर उन में और राक्षसों में भेद क्या होगा?

हमारी दृष्टि में तो यह पौराणिक गप्पाष्टक है और यदि सनातनी विद्वान इसे सही मानते हैं, तो स्पष्ट रूप से यह पौराणिक कूड़ेदान की एक भयंकर गंदगी है, जिस की दुर्गंध के कारण सनातन धर्म से लोग घृणा करते हैं. यदि पौराणिक जनता अब भी अपने यहां चालू इस गंदी प्रथा को बंद कर दे तो उत्तम होगा.

ऋग्वेद में पिता द्वारा पुत्री को गर्भवती बनाने का वर्णन है. संबद्ध मंत्र और उन के 'हिंदी ऋग्वेद' (पंडित रामगोविंद त्रिवेदी) में दिए अर्थ निम्नलिखित हैं–

प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत्.
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा..

(ऋ. 10-61-5)

अर्थ– जो प्रजापति का वीर्य पुत्रोत्पादन में समर्थ है, वह बढ़ कर निकला. प्रजापति ने मनुष्यों के हित के लिए रेत का त्याग किया. अपनी सुंदरी कन्या (ऊषा) के शरीर में ब्रह्मा या प्रजापति ने उस शुक्र (वीर्य या रेत) का सेक किया.

चतुर्वेदभाष्यकार आचार्य सायण (14-15वीं शताब्दी) ने भी इस मंत्र का ऐसा ही अर्थ किया है.

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्.
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ..

(ऋ. 10-61-6)

अर्थ– जिस समय पिता युवती कन्या (ऊषा) के ऊपर पूर्वोक्त रूप से

रतिकामी हुए और दोनों का संगमन हुआ, उस समय दोनों के परस्पर संगमन से अल्प शुक्र का सेक हुआ, सुकर्म के आधार स्वरूप एक उन्मत स्थान में उस शुक्र का सेक हुआ.

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिंचत्.
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्..

(ऋ. 10-61-7)

अर्थ– जिस समय पिता ने अपनी कन्या (ऊषा) के साथ संभोग किया, उस समय पृथ्वी के साथ मिल कर शुक्र का सेक किया. सुकृति देवों ने इस से व्रतरक्षक ब्रह्म (वास्तोष्पति व रुद्र) का निर्माण किया.

(हिंदी ऋग्वेद, ई. 1954 पृ. 1303)

वेदों के प्रायः समकालीन या कुछ समय बाद बने माने गए ब्राह्मण ग्रंथों में भी यह प्रसंग मिलता है. 'शतपथ ब्राह्मण' में आता है:

प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ.
दिवं वोषसं वा मिथुन्येन्या स्यामि ति तां सम्बभूव..(1)
तद्धै देवानामागऽआस.
यऽइत्तयमर्थस्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोतीति..(2)

ते ह देवा ऊचुः योऽयं पशूनाभीष्टेऽति सन्धं वा अयं चरति य इत्तयं स्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोति विध्येममिति तं. रुद्रोऽभ्यापत्य विव्याध रास्य साभि रेतः प्रचस्कंद तथेन्नून तदास..(3)

(शतपथ ब्राह्मण, 1-7-4-1-3)

अर्थ– (प्रजापतिः) प्रजापति देव की (ह) इतिहासद्योतक अव्यय है, (वै) निश्चयवाचक अव्यय है, (स्वां) अपनी, (दुहितरं) बेटी की, (अभिदध्यौ) स्पृहा की अर्थात् कामेच्छा से उस को चाहा, (दिवं) द्युलोक की, (वा) और, (उषसं) उषःकाल को, (मिथुनी) मैं अकेला हूं इस से जोड़ा, (स्याम्) हो जाऊं, (इति) इस से, (तां) उस से, (सम्बभूव) मिला अर्थात संगम किया, (तद्ध) वह, (वै) ही, (देवानां) देवताओं का, (आगः) अपराध अर्थात पाप, (आस) हुआ ब्रह्मा जी से, (यः) जो यह प्रजापति, (इत्त् यम्) इस प्रकार, (स्वां) अपनी, (दुहितरं) बेटी को, (अस्माकं) हमारी, (स्वसारं) बहिन को, (करोति) करता है अर्थात अपनी बेटी से जो हमारी बहिन लगती है उस से ऐसा करता है, (इति) बस, (ते) वे निश्चय कर के, (ह) प्रसिद्ध है कि, (देवाः) देव लोग, (ऊचुः) बोले उस से, (यः) जो, (अयं) यह, (देवः) देव (पशूनाः) पशुओं का, (ईष्टे) मालिक है ईश्वर है अर्थात शिव जी ने उन से कहा कि, (वे) निश्चय कर के, (अयं) यह प्रजापति, (अति सन्धं) संध्या मर्यादा उस का उल्लंघन कर के, (आचरति) आचरण करता है, (इत्तयम्) इस प्रकार, (यः) जो यह प्रजापति

अपनी पुत्री जो हमारी बहिन है उस को मैथुनार्थ चाहता है, (इति) **इसलिए,** (इमम्) **इस को** (विध्य) **अपने बाण से बीधों, अनंतर** (रुद्रः) **शिव,** (तं) **उस को चारों तरफ से,** (विव्याध) **बींधते हुए उस के पास पहुंचे,** (अभ्यापत्य) **और इस समय ही,** (तस्य) **उस प्रजापति का,** (साभि) **अधम्मे ही अर्थात बीच में ही,** (रेतः) **वीर्य** (प्रचस्कन्द) **गिर गया,** (तथा) **वैसे,** (इत्) **ही,** (नूनं) **निश्चय,** (तत्) **वह,** (आस) **हुआ.**

(सनातन धर्म के प्रचारक पंडित कालू राम शास्त्री द्वारा 'पुराण वर्म,' पृ. 169-170 पर उद्धृत)

स्वामी दयानंद ने भी वेदों में पितापुत्री के संबंध को प्रकारांतर से स्वीकार किया है; जैसे–

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वां ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्.
पिता यत्र दुहितुः सेकमृजन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे..

(ऋ. 3-31-1)

ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र का भाष्य करते हुए स्वामी दयानंद 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' में लिखते हैं–

पदार्थ– (शासत्) **शिष्यात्,** (वहिनः) **वोढा,** (दुहितुः) **कन्यायाः** (नप्त्यम्) **नप्तरि भवम्, (अत्र छांदसो वर्ण लोपो वेति लोपः)** (गात्) **प्राप्नुयात्,** (विद्वान) **यो वेदितव्यं वेत्ति** (ऋतस्य) **सत्यस्य** (दीधितिम्) **धर्त्तारम्** (सपर्यन्) **सेवमानः** (पिता) **जनकः** (यत्र) **यस्मिन् व्यवहारे** (दुहितुः) **दूरे हितायाः कन्यायाः** (सैकम्) **सेचनम्** (ऋ जन्) **संसाहनुवन** (सम्) **शग्म्येन शग्मेषु सुखेषु भवेन. राग्मनिति सुखनाम. निघं. 3. 69** (मनसा) **अंतःकरणेन** (दधन्वे) **प्रीणाति.**

भावार्थ– हे मनुष्य यथा पितु सकाशात्कन्योत्पद्यते तथैव सूर्य्यादुषा उत्पद्यते यथा पतिभार्यायां गर्भ दधाति तथैव कन्या वद्धत्तेमानायामुषसि सूर्य्यकिरणाख्यं वीर्यं दधाति तेन दिवसरूपमत्यमुपद्यते..

अर्थात (शासत्) **शिक्षा देवे** (वहिनः) **पिता** (दुहितः) **कन्या के** (नप्त्यं) **नाती को** (गात्) **प्राप्त होवे** (विद्वान) **जानता हुआ** (ऋतस्य) **सत्य के** (दीधितम्) **धारण करने वाले की** (सपर्यन्) **सेवा करता हुआ** (पिता) **उत्पन्न करने वाला पिता** (यत्र) **जिस व्यवहार में** (दुहितः) **कन्या के** (सैकम्) **सेचन को** (ऋजन्) **सिद्ध करता हुआ** (शम्म्येन) **सुखों में स्थित** (मनसा) **अंतःकरण से** (सम् दधन्वे) **सम्यक् प्रसन्न होता है.**

भाषार्थ– हे मनुष्यो, जैसे पिता के संसर्ग से कन्या उत्पन्न होती है उसी प्रकार सूर्य से ऊषा उत्पन्न होती है जैसे पति अपनी भार्या में गर्भ किरण रूपी वीर्य को धारण कराता है और उस के द्वारा दिवस रूप पुत्र की उत्पत्ति होती है.

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्.
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्..

(ऋ. 1-164-33)

उक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानंद ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इस प्रकार लिखा है–

सविता सूर्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोस्ति, तस्या दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति. यस्माद्यदुत्पद्यते यत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालंकारोक्तिः. स च पिता तां रोहितां किंचिदुक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमम्यध्यायत् प्राप्नोति. एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यै पुत्रमजीजनदुत्पादयति. अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्य्यश्च.

अर्थात सूर्य या सूर्यलोक को सविता कहते हैं. और इसी का नाम प्रजापति है. कन्या के समान इस की दुहिता द्यौ और ऊषा हैं. जिस से जो उत्पन्न होता है वह उस के अपत्य (संतान) के समान है और वह उस के पिता के समान है, ऐसा रूपकालंकार है और वह पिता के उस रोहित अर्थात किंचिद् रक्त गुण प्राप्त किरणों द्वारा उत्पन्न कन्या को ऋष्यवत शीघ्र प्राप्त होता है. उत्पन्न होने के कारण ही, इस प्रकार प्राप्त प्रकाश आदित्य का पुत्र कहलाता है. इस पुत्र की माता के समान ऊषा है और पिता के समान सूर्य.

कुतः. तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् यस्मिन् भू प्रदेशे प्रातः पंचघटिकायां रात्रौ स्थितायां किंचित्सूर्य्य-प्रकाशेन रक्ता भवति तस्योषा इति संज्ञा. तयोः पिता दुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्य पुत्रो जातः यथा माता पितृभ्यां संतानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम्.

किस प्रकार? उस ऊषा दुहिता में किरण रूपी वीर्य द्वारा सूर्य से दिवस पुत्र उत्पन्न होने के कारण. जिस भूप्रदेश में प्रातःकाल पांच घड़ी रात स्थित होने पर थोड़े से सूर्य प्रकाश द्वारा जो रक्तता दिखाई पड़ती है उस का नाम ऊषा है. उन दोनों पिता और दुहिता (पुत्री) के समागम से उत्कट प्रकाश रूप सूर्य का पुत्र उत्पन्न होता है. जिस प्रकार मातापिता द्वारा संतानोत्पत्ति होती है, वैसा ही यहां भी समझना चाहिए.

एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पिता, दुहितृवत्. कुतः. पर्जन्याद्द्भ्यः पृथिव्या उत्पत्ते. अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति. पर्जन्यो वृष्टि द्वारा तस्यां वीर्यवज्जलप्रक्षेपेण गर्भं दधाति, तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते. अयमपि रूपकालंकारः.

इसी प्रकार पर्जन्य (बादल) और पृथिवी क्रमशः पिता और पुत्री के समान हैं, कैसे? पर्जन्य अर्थात जल से पृथिवी की उत्पत्ति मानी गई है. इसलिए पृथिवी उस की दुहिता (पुत्री) के समान है. वह पर्जन्य वृष्टि द्वारा उस में वीर्य रूप जल

प्रक्षेप द्वारा गर्भ धारण कराता है. उस गर्भ से औषधियां आदि संतान उत्पन्न होती हैं. यह भी रूपकालंकार है.

स्वामी दयानंद का कहना है कि पहले ऊषा को सूर्य की पुत्री माना जाए, फिर इसी पुत्री से सूर्य रूपी पिता समागम कर के पुत्र उत्पन्न करे. तब तो अवश्य अश्लीलता आ जाती है और पितापुत्री के अनुचित यौन संबंधों का वेदों में वर्णन स्वीकारना ही पड़ता है.

पिता द्वारा पुत्री के प्रति कामुक हो उठने व उस के साथ अनाचार का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध विद्वान ए.ए. मैकडोनल ने अपनी पुस्तक *वैदिक माइथौलाजी* (हिंदी अनुवाद–राम कुमार राय) पृ. 226, 1961 ई. में लिखा है–

मैत्रायण संहिता (4-2) अर्थात यजुर्वेद में प्रजापति के अपनी पुत्री उषस् पर ही आसक्त हो जाने की पुराकथा मिलती है. उषस् ने हिरणी का रूप धारण कर लिया, उस समय इन्होंने भी अपने को हिरण बना लिया. इस पर क्रुद्ध हो कर रुद्र ने इन्हें अपने बाण का लक्ष्य बनाया किंतु इन्होंने (प्रजापति) रुद्र को बाण न चलाने पर पशुओं का अधिपति बना देने का वचन दिया. (तुलना कीजिए ऋग्वेद 10-61) ब्राह्मणों में इस पुराकथा का अनेक बार उल्लेख है. (ऐतरेय ब्राह्मण 3-33, शतपथ ब्राह्मण 1-7-4, पंचविंश ब्राह्मण 8-2) इस पुराकथा का आधार ऋग्वेद के वह दो स्थल (1-71-10-61) प्रतीत होते हैं, जिन में एक पिता (जो 'द्यौस्' प्रतीत होता है) की अपनी पुत्री (यहां प्रत्यक्षतः पृथिवी) के प्रति अनाचारेच्छा का वर्णन और एक धनुर्धर का भी उल्लेख है.

पितापुत्री के इसी प्रसंग के विषय में लिखते हुए जौन डौसन ने अपनी पुस्तक 'हिंदू क्लासिकल डिक्शनरी' (पंजाबी अनुवाद रजिंदर सिंह शास्त्री, दूसरा संस्करण 1973, के पृ. 666) में लिखा है–

"ਬ੍ਰਹਮਾ ਦਾ ਨਾ ਵੇਦਾਂ ਅਤੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦਾ, ਇਹਨਾਂ ਵਿਚ ਚੇਤੰਨ ਸਿਰਜਨਹਾਰ ਨੂੰ ਹਿਰਣਯਗਰਭ, ਪ੍ਰਜਾਪਤੀ ਆਦਿ ਕਿਹਾ ਗਿਆ ਹੈ... ਬ੍ਰਹਮਾ ਨਾਲ ਜੋ ਦੋ ਸੰਕੇਤ ਜੋੜੇ ਗਏ ਹਨ ਉਹ ਧਿਆਨਯੋਗ ਹਨ. ਪਹਿਲਾ ਮਨੁੱਖਾਂ ਦਾ ਪਿਤਾ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਇਹ ਆਪਣੀ ਧੀ, ਜਿਸ ਦਾ ਵਾਚ ਜਾਂ ਸਰਸਵਤੀ, ਸੰਧਿਆ, ਸ਼ਤਰੂਪਾ ('ਸੌ ਰੂਪਾਂਵਾਲੀ') ਆਦਿ ਅਨੇਕਾਂ ਨਾਵਾਂ ਨਾਲ ਵਰਣਨ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ, ਨਾਲ ਸੰਤਾਨ ਪੈਦਾ ਕਰਨ ਲਈ ਵਿੱਭਚਾਰ ਕਰਦਾ ਹੈ."

इस का हिंदी इस प्रकार है–

'ब्रह्मा का नाम वेदों और पुराणों में नहीं मिलता. इन में इस के स्थान पर हिरण्यगर्भ, प्रजापति आदि का नाम आता है– ब्रह्मा के साथ जो दो संकेत जोड़े

जाते हैं वे ध्यान देने योग्य हैं. पहला, मनुष्यों का पिता होने के कारण वह अपनी पुत्री जिसे कि वाक् या सरस्वती, संध्या, शतरूपा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, के साथ संतान पैदा करने के लिए व्यभिचार करता है.'

शतरूपा नामक अपनी कन्या से ब्रह्मा ने कैसे व्यभिचार किया, इस का वर्णन,'मत्स्य पुराण' में इस प्रकार है:

शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते..(31)
सरस्वत्यथ गायत्री ब्राह्मणी च परंतप.
ततः स्वदेहसंसूतामात्मजामित्यकल्पयत्..(32)

दृष्ट्वा तां व्यथितस्तावत्कामवाणार्दितो विभुः.
अहो रूपमहो रूपमिति चाऽऽह प्रजापतिः..(33)

ततो वसिष्ठप्रमुखा भगिनीमिति चुकुशुः.
ब्रह्मा न किंचिद्ददृशे तन्मुखालोकनादृते..(34)

अहो रूपमहो रूपमिति प्राह पुनः पुनः.
ततः प्रणामनम्रां तां पुनरेवाम्यलोकयत्..(35)

अथ प्रदक्षिणं चक्रे सा पितुर्वर्वर्णिनी.
पुत्रेभ्यो लज्जितस्यास्य तद्रपालोकनेच्छया..(36)

आविर्भूतं ततो वक्त्रं दक्षिणं पाण्डुगण्डवत्.
विस्मयस्फुरदोष्ठं च पाश्चात्यमुदगातत:..(37)

चतुर्थमभवत्पश्चाद्वामं . कामशरातुरम्.
ततो न्यदभवत्तस्य कामातुरतया तथा..(38)

उत्पतन्त्यास्तदाकाश आलोकनकुतूहलात्.
सृष्ट्यर्थ यत्कृतं तेन तपः परमदारुणम्..(39)

ततस्तानब्रवीद्ब्रह्मा पुत्रानात्मसमुद्भवान्.
प्रजाः सृजध्वमभितः सदेवासुरमानुषीः..(41)

एवमुक्तास्ततः सर्वे ससृजुतिर्विविधाः प्रजाः.
गतेषु तेषु सृष्ट्यर्थ प्रणामावनतामिमाम्..(42)

उपयेमे स विश्वात्मा शतरूपामनिनिदताम्.
स बभूव तया सार्धमतिकामातुरो विभुः स लज्जां
चकमे देवः कमलोदरमन्दिरे..(43)

यावदब्दशतं दिव्यं यथाऽन्यः प्राकृतां जनः.
ततः कालेन महता तस्या : पुत्रोऽभवन्मनुः..(44)

(मत्स्य पुराण, अ. 3)

अर्थात् उस का नाम शतरूपा, सावित्री और सरस्वती है. अपने शरीर से उत्पन्न हुई इस लड़की को देख कर ब्रह्मा काम के बाणों से पीड़ित हो उठे. वसिष्ठ आदि ने उन से कहा कि यह हमारी बहिन है परंतु ब्रह्मा को उस के मुख को देखने के सिवा कुछ सूझता न था. ब्रह्मा ने अपने पुत्रों से कहा कि जाओ और सृष्टि रचो. जब वे सृष्टि रचने चले गए तब ब्रह्मा निर्दोष शतरूपा के पास गया और साधारण आदमी की तरह उस के साथ एक सौ दिव्य वर्षों तक कामोपभोग करता रहा. बहुत समय के बाद उस के मनु नामक पुत्र पैदा हुआ.

श्री पं. माधवाचार्य शास्त्री और महाशय बालकृष्ण शर्मा, बंबई निवासी सभापति आर्य विद्वत्सम्मेलन (दयानंद जन्म शताब्दी मथुरा) के मध्य में होने वाले पांच शास्त्रार्थों के संग्रह 'शास्त्रार्थपंचक' (तृतीय संस्करण 1975 ई.) के पृ. 114-115 पर ब्रह्मा के विषय में लिखा है कि–

(क) प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन्. ------ (ऋग्वेद 8-1-27)
(ख) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ.. ------ (शतपथ 1-7-4-1)
(ग) पिता दुहितुर्गर्भमाधात्. ------ (अथर्ववेद 9-10-12)

अर्थात प्रजापति ने अपनी पुत्री का पीछा किया. उसे चाहा. उस में गर्भधारण किया.

'हिंदू जाति के छिपे दुश्मन' के पृ. 10 पर पं. कृष्ण शास्त्री प्रधान श्री सनातन धर्म उपदेशक मंडल पंजाब, ने लिखा है–

"वेद के दोतीन उदाहरण हम आप को देते हैं–

(क) यत्र पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ------ (ऋग्वेद)
(ख) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ ----- (शतपथ)
(ग) श्वसुरजारः श्रृणोतु न ----- (ऋग्वेद)

इन मंत्रों के आपाततः प्रतीत होने वाले अर्थ निम्नलिखित हैं–
(क) जहां पिता ने अपनी पुत्री में गर्भाधान किया.
(ख) प्रजापति अपनी पुत्री पर आसक्त हो गया.
(ग) बहिन का जार हमारी स्तुति सुने."

सनातनधर्मी पं. माधवाचार्य ने अपनी पुस्तक 'पुराण दिग्दर्शन' में लिखा है:

पिता दुहितुर्गर्भमाधात्.

(अथर्ववेद 9-10-12)

अर्थात पिता ने पुत्री में गर्भ स्थापित किया.

(देखें– पुराण दिग्दर्शन, पृ. 268 व 403)

आर्यसमाजी विद्वान पं. रघुनंदन शर्मा ने लिखा है–

ऋग्वेद में है–

> द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्.
> उत्तानयोश्चम्वो३ र्योनिरन्तरात्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्..
>
> (ऋ. 1-164-33)
>
> शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यंगाद्विदां ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्.
> पिता यत्र दुहितुः सेकमृजन्त्सं शग्मयेन मनसा दधन्वे..
>
> (ऋ. 3-31-1)

इन मंत्रों में 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' और 'पिता यत्र दुहितुः सेकमृंजन' पद आए हैं, जिन का यह अर्थ होता है कि पिता दुहिता में गर्भ धारण करता है. इस घटना का खुलासा शतपथ, ऐतरेय और निरुक्त आदि वैदिक ग्रंथों में इस प्रकार लिखा हुआ है कि ऊषा सूर्य की कन्या है. सूर्य उसी ऊषा में अपने किरण रूपी वीर्य को स्थापित कर के गर्भ धारण कराता है, जिस से दिन उत्पन्न होता है अथवा जल रूपी पिता अपनी पृथिवी रूपी कन्या में मेघ द्वारा गर्भ धारण कराता है जिस से वनस्पति पैदा होती है.

(पं. रघुनंदन शर्मा, वैदिक संपत्ति, 1930 ई., पृ. 586)

यहां स्पष्ट रूप में सूर्य व जल को पिता और ऊषा व पृथ्वी को उस की पुत्री कहा गया है. पितापुत्री के इस प्रकार के अश्लील रूपक बांधने का क्या अर्थ है? यदि इस प्रकार के संबंध उस समय के समाज में बुरे समझे जाते तो वेद ऐसे अश्लील रूपक कभी न बांध सकते. कवियों द्वारा प्रचलित और समाज में मान्यता प्राप्त उपमाएं व रूपक प्रस्तुत किए जाते हैं. यदि ये रूपक समाज की रुचि के प्रतिकूल होते, समाज इन्हें सहन न करता, तो इन्हें वे बचाए क्यों रखते?

यदि, 'इन्हें तत्कालीन समाज स्वीकारता था या नहीं,' इस बात को एक ओर छोड़ भी दें, तो भी प्रश्न उठता है कि इन गंदे रूपकों की क्या धार्मिक उपयोगिता है? क्या एक सीधी बात सीधे शब्दों में नहीं कही जा सकती थी? क्या पिता द्वारा पुत्री को गर्भधारण करवाने का रूपक बांधना जरूरी था? यदि था तो क्यों? इस से कौन सा महान उद्देश्य सिद्ध होता था?

देवीदेवताओं और ऐसे ही अन्य लोगों के चारित्रिक दौर्बल्य को प्राचीन धर्मवेत्ता भलीभांति जानते थे. लेकिन उन्होंने उन्हें सब कुछ कर के भी निर्दोष रहने का लाइसेंस दे रखा था. भागवत पुराण में कहा गया है–

> धर्म व्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्.
> तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा..(30)
>
> नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः.
> विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजंविषम्..(31)

ईश्वराणां वचः सत्यं तथेवाचरितं क्वचित्.
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्..(32)

अर्थात महाराज, ईश्वर (समर्थ लोगों) का किसीकिसी स्थल पर धर्म के व्यतिक्रम (धर्म विरोधी) में भी साहस देखा जाता है. इस का कारण यही है कि तेजस्वी लोग अकार्य करने से भी दूषित नहीं होते. देखो अग्नि में जो शुद्ध या अशुद्ध पड़ता है उस को वह भस्म कर देता है, तथापि उस के कारण दूषित नहीं होती. किंतु जो अनीश्वर (असमर्थ) है वह ईश्वर के ऐसे विपरीत आचरण के अनुकरण का कभी मन में संकल्प भी न करे. यदि वह मूर्खता से ऐसा करता है तो उस का विनाश हो जाता है. शिव ने कालकूट विष पी लिया परंतु उन का कुछ नहीं बिगड़ा; किंतु यदि कोई असमर्थ व्यक्ति उन का अनुकरण कर के विष पान करे तो अवश्य ही मर जाएगा. ईश्वर के वचन सत्य हैं अर्थात उन के अनुसार चलना चाहिए. ईश्वर के कोईकोई आचरण ही अनुकरण करने योग्य हैं–किंतु सब नहीं. इसलिए ईश्वर के वचनों को मानना एवं उचित आचरण का अनुकरण करना ही बुद्धिमानों का कर्तव्य है.

(श्रीमद्भागवत भाषा पृ. 916, प्रकाशन सन 1931, अनुवाद–पंडित रूपनारायण पांडेय)

क्या यहां देवीदेवताओं के धर्म विरोधी कार्यों के सद्भाव को स्वीकार कर के उन के दूसरे अर्थ कल्पित करने का वृथापन घोषित नहीं कर दिया गया? क्या इस के बाद भी इन चरित्रों पर लीपापोती करने का अवकाश रह जाता है?

वेद के निम्नलिखित मंत्र से स्वामी दयानंद ने नियोग सिद्ध किया है–

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु.
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि..

(ऋ. 10-85-45)

अर्थात हे (मीढ्व–इंद्र) वीर्य सींचने में समर्थ ऐश्वर्य युक्त पुरुष, तू इस विवाहिता स्त्री या विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्य युक्त कर विवाहिता स्त्री में दस पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान. हे स्त्री, तू भी विवाहित पुरुष व नियुक्त पुरुषों से दस संतान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ.

स्वामी जी कृत इस अर्थ पर टिप्पणी करते हुए सनातनी विद्वान पं. कालूराम शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'लीडरी पर प्लेग' (पृ. 311-314) में इस प्रकार लिखा है–

स्वामी जी के इस अर्थ पर हम को एक दृष्टांत याद आ गया कि किसी मनुष्य ने किसी देवता की आराधना की. बहुत दिन तक आराधना करने के पश्चात देवता प्रसन्न हुआ और प्रकट हो कर बोला कि, 'वरं ब्रूहि' –तू वर मांग. इस पुरुष ने कहा कि जो मांगूं वही पाऊं, उस ने इस कारण से इस को दोहराया कि संभव है कि वह देवता वर की चालाकी समझ कर वर देने से इनकार कर दे, देवता की

बुद्धि उस की चालाकी न समझ सकी. जब वह कहने लगा, 'जो मांगूं सोई पाऊं' इस को सुनते ही देवता ने कह दिया कि अच्छी बात है कि जो मांगोगे वही मिलेगा, इतना सुन कर वह बोला कि अच्छा तो दीजिए, मेरा वर यह है कि मैं जब चाहूं तब तीन वर मांग लूं. देवता ने कहा, 'बहुत अच्छा'–'तथास्तु' ऐसा ही होगा. इस के बाद देवता ने कहा कि इस समय तो वर की आवश्यकता है नहीं क्योंकि तुम्हारे कथन में ही यह आया है कि मैं जब चाहूंगा वर मांग लूंगा. इस पर पुरुष ने उत्तर दिया कि इस समय कोई आवश्यकता नहीं. इतना सुन कर देवता अंतर्धान हो गए और वह पुरुष अपने घर को चला आया.

कुछ दिन बाद उस पुरुष ने देवता को याद किया. याद करते ही देवता ने प्रकट हो कर पूछा, 'क्यों याद किया?' उस मनुष्य ने कहा कि उन तीनों वरों की आवश्यकता है. देवता ने कहा, 'मांग.' पुरुष ने कहा, 'प्रथम वर तो यह दो कि मैं लखपती हो जाऊं.' देवता ने कहा, 'तथास्तु'– ऐसा ही होगा, यह वर ले कर मनुष्य ने कहा, 'अब दूसरा वर यह कि मेरा विवाह हो जाए.' देवता ने फिर 'तथास्तु' कह दिया. तब उस ने कहा कि अच्छा तो अब मैं तीसरा वर भी मांग लूं. तो फिर तीसरा वर यह है कि मैं जब चाहूं तीन वर मांग लूं. लाचार हो कर देवता ने कहा, 'अच्छा.' इतना कह कर देवता अदृश्य हो गया. और वह मनुष्य अपने घर के काम में लग गया.

तीन महीने का समय भी नहीं बीतने पाया था कि वह लखपति हो गया और चतुर्थ मास में उस का विवाह हो गया. फिर क्या था. मौज उड़ने लगी किंतु यह तृष्णा कब चैन लेने देती है, यह तो जितना द्रव्य, ऐश्वर्य देखेगी उतनी ही बढ़ेगी. लाचार तृष्णा भूत के फंदे में फंस कर उस मनुष्य ने फिर देवता को याद किया. देवता ने आ कर पूछा कि अब क्यों याद किया? उस ने उत्तर दिया कि वे तीन वर मांगने हैं. देवता ने कहा कि मांगो. उस ने कहा कि प्रथम वर तो यह दीजिए कि मैं राजा हो जाऊं और दूसरा वर यह कि मेरे पुत्र हों, देवता ने फिर वही 'तथास्तु' कह दिया, वह फिर बोला कि अच्छा तो तीसरा वर भी मांग लूं. देवता ने कहा–हां मांगो. उस ने कहा, 'तीसरा वर यह है कि मैं जब चाहूं तीन वर मांग लूं.' आखिर देवता ने कहा, 'बहुत अच्छा.'

दृष्टांत बहुत बड़ा है. उस को यहां पर छोड़ कर विचार तो करिए कि क्या किसी जमाने में ये तीन वर पूरे हो कर इस देवता का पिंड भी छूटेगा? इस प्रश्न का तो उत्तर ही यह है कि हरगिज भी छुटकारा नहीं हो सकता क्योंकि तीन वर मांगने में चालाकी से काम लिया गया है.

जिस प्रकार की चालाकी इन तीन वरों को मांगने में रखी है हूबहू इस प्रकार की चालाकी स्वामी दयानंद जी ने 'इमां त्वमिन्द्र मीढ्व' इस मंत्र से ग्यारह पति मांगने में रखी है. इस को यों समझिए, जब कन्या का विवाह होगा उस समय वह वर से ग्यारह पति करने की आज्ञा मांगेगी, इसी प्रकार यदि नियोग करेगी तो दस नियोगी पुरुषों से भी ग्यारहग्यारह पति की आज्ञा लेगी तो इस हिसाब से पतियों का जोड़ 121 हुआ. फिर आगेआगे वह जितने नियोगी पति स्वीकार करती

जाएगी. प्रत्येक से ग्यारह की आज्ञा मांगती जाएगी. जैसे वरदान में सैकड़ों वर लेने पर भी तीन वर बाकी ही रहेंगे. इसी प्रकार स्त्री अगर पांच सौ पति भी कर ले तब भी तो ग्यारह पति बाकी रहेंगे.

इसी को व्यभिचार कहते हैं. नियोग पर अदालत का फैसला भी इसी बात की पुष्टि करता है. देखिए, पेशावर की अदालत का निम्नलिखित निर्णय–

मुकदमा

मुद्दई – मेहरचंद, मेंबर, आर्यसमाज, पेशावर

मुद्दालेह – गंगाप्रसाद, सनातन धर्मी अदालत

मौलवी अंजाम अली खां– साहब मजिस्ट्रेट, दरजा अव्वल, पेशावर जैर दफा 50/502

तारीख 8 दिसंबर सन 1861 ई.

इस मुकदमे के दो अदालतों के फैसले सुनिए–

'इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि दयानंद की खास पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' में व्यभिचार की तालीम मौजूद है, मुद्दई खुद इस बात को स्वीकार करता है कि वह उन नियमों पर जिन में विवाहित स्त्री को अपने असली पति के जीते जी किसी अन्य विवाहित पुरुष के साथ भोग करने की आज्ञा है–विश्वास रखता है. ये रिवाज बेशुभह व्यभिचार हैं. इस वास्ते यह जिक्र करते हुए कि दयानंद के शिष्य इन उपरोक्त नियमों पर विश्वास बनाए हुए रस्म व्यभिचार का आरंभ कर रहे हैं और अगर इन नियमों पर इन का विश्वास इसी तरह रहा तो ये इस व्यभिचार को ज्यादा उन्नति देंगे. मुद्दालेह ने सचाई से एक बात को प्रकाशित किया है.'

आर्यसमाजियों ने इस फैसले की अपील साहब जज के यहां की. जज साहब बहादुर ने इस अपील को खारिज कर दिया और खारिज करते हुए यह रिमार्क दिया–

'दयानंद के नियम ऐसे नियम हैं कि वे हिंदू धर्म तथा दूसरे मजहबों की निंदा करते हैं और इस किताब ('सत्यार्थप्रकाश') के चंद हिस्से खुद भी निहायत फूहड़ (घृणित) हैं.' (वैदिक सत्यार्थप्रकाश उपनाम आर्यसमाज की अंत्येष्टि, पंडित कालूराम शास्त्री, प्रथमावृत्ति 1936 ई., पृ. 229)

'शास्त्र' शब्द किसी धर्मग्रंथ विशेष का सूचक नहीं है. यह तो सामान्य शब्द है जो ज्ञान के एक विभाग का या ग्रंथ का वाचक है, जैसे वेदांतशास्त्र, न्यायशास्त्र, अलंकारशास्त्र आदि. आजकल बहुत से नए शास्त्र मिलते हैं, जैसे भौतिकशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि. ये सब ज्ञान के विभागों या ग्रंथों के सूचक हैं.

प्राचीन काल में भी शास्त्र शब्द से कोई धर्मग्रंथ विशेष अभिप्रेत न था. प्राचीन

काल में सिर्फ दो शास्त्र मिलते हैं– चाणक्य कृत 'अर्थशास्त्र' और वात्स्यायन कृत कामशास्त्र. दोनों में काफी स्थल ऐसे हैं. जिन्हें निरा कूड़ाकरकट कहा जा सकता है. कामशास्त्र में हिजड़ों से यौन संबंध पर पूरा अध्याय लिखा है, जो निरा कूड़ा ही नहीं, बल्कि गंद भी है. ऐसे ही कौटिल्य (चाणक्य) के 'अर्थशास्त्र' में वेश्यावृत्ति और दासप्रथा पर अनेक अध्याय मिलते हैं. उन में कहीं भी इन अमानवीय प्रथाओं का विरोध नहीं किया गया. इस के साथ ही विविध प्रकार की शराब बनाने की विधियां, विषकन्याएं आदि बहुत कुछ है, जिसे कूड़ाकरकट ही कहा जाएगा.

कामशास्त्र संबंधी एक घटना मुझे याद हो आई है. जातिपाति तोड़क मंडल के प्रधान श्री संतराम, बी. ए. ने अपने यौवन के दिनों की यादें बताते हुए लिखा है–बच्छोवाली, लाहौर के आर्यसमाजी मेरे विचारों से सहमत नहीं थे. मैं वर्णव्यवस्था का भी विरोध करता था जिसे कि आर्यसमाजी वेदविहित होने के कारण सही मानते थे. आज भी वे ऐसा ही मानते हैं. उन्होंने मुझे शास्त्रार्थ के लिए ललकारा. मैं ने चुनौती स्वीकार की. शास्त्रार्थ हुआ. आर्यसमाज की तरफ से खड़े हुए विद्वान पं. हेमराज वैद्य ने कहा–

'तुम शास्त्रों को नहीं मानते.'

'तुम भी शास्त्रों को कहां मानते हो,' मैं ने कहा.

पंडित जी ने कहा, 'हम तो शास्त्रों को मानते हैं.'

'क्या तुम कामशास्त्र को मानते हो?' मैं ने कहा.

शास्त्रार्थ के समय उपस्थित जनता ने तालियां बजाईं और जोर से हंसी. आर्यसमाजी पंडित झेंप कर बैठ गए. (देखें संतराम, बी. ए. कृत 'मेरे जीवन के अनुभव' पृ. 230)

शास्त्र का अर्थ कुछ लोग 'धर्मग्रंथ' करते हैं, लेकिन यदि शास्त्र का अर्थ धर्मग्रंथ है तो फिर कामशास्त्र, अलंकारशास्त्र, भौतिकशास्त्र आदि धर्मग्रंथ कैसे बन गए?

दूसरे, इस बात का क्या पैमाना है कि अमुक पुस्तक धर्मग्रंथ है और 'अमुक' नहीं? कुछ लोग तो उपन्यासों और महाकाव्यों तक को धर्मग्रंथ कहते हैं. रामायण को स्वयं आदि कवि वाल्मीकि ने 'काव्य' कहा है (देखें, रामायण के अंतिम श्लोक), लेकिन कई उसे धर्मग्रंथ कहते हैं. महाभारत को व्यास और उस के लिपिकार गणेश ने काव्य कहा है (देखें, आदिपर्व 1-61-74), लेकिन कुछ लोग उसे भी धर्मग्रंथ कहते हैं.

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद ने 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास में पुराणों और तंत्र ग्रंथों के विषय में लिखा है, जैसे कोई मनुष्य एक का मित्र (किंतु) सब संसार का शत्रु हो, वैसे ही पुराण और तंत्र को मानने वाला

ही पुरुष होता है. क्योंकि एक दूसरे से विरोध करने वाले ये ग्रंथ हैं. इन को मानना किसी विद्वान का काम नहीं, किंतु इन को मानना अविद्वत्ता है. उन्होंने उसी पुस्तक के तृतीय समुल्लास में दूसरे कई धर्मग्रंथों के बारे में लिखते हुए उन्हें 'कपोल कल्पित' और 'मिथ्या ग्रंथ' कहा है. 'स्मृतियों में एक मनुस्मृति, इस में भी प्रक्षिप्त श्लोक (और) अन्य सब स्मृति. सब तंत्र ग्रंथ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदास कृत भाषा रामायण, रुक्मिणी मंगलादि और सर्वभाषा ग्रंथ, ये सब कपोलकल्पित मिथ्या ग्रंथ हैं.'

प्रश्न– क्या इन ग्रंथों में कुछ भी सत्य नहीं?

उत्तर– थोड़ा सत्य तो है परंतु इस के साथ बहुत सा असत्य भी है. इस से 'विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्या:' जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रंथ हैं. लेकिन सनातनी उन्हें धर्मग्रंथ कह और मान रहे हैं. तांत्रिकों की पोथियों में मद्य, मांस, मैथुन आदि का खुल्लमखुल्ला प्रयोग मिलता है, लेकिन लोग उन्हें भी धर्मग्रंथ मानते हैं. उधर वैदिकों व सनातनियों के धर्मग्रंथों को न बौद्ध मान्य समझते हैं, न जैन. इसी प्रकार वैदिक व सनातनी बौद्धों व जैनों के धर्मग्रंथों को मान्य नहीं समझते. यह स्थिति है धर्मग्रंथों और (जो धर्मग्रंथों को शास्त्र कहना चाहते हैं, उन के मुताबिक) शास्त्रों की.

इस से स्पष्ट है कि यदि शास्त्र का अर्थ धर्मग्रंथ लिया भी जाए, तो भी इस बात पर मतैक्य नहीं है कि धर्मग्रंथ कौन सी पुस्तक है और कौन सी नहीं है. कुछ के लिए यदि वेद धर्मग्रंथ हैं, तो कुछ के लिए तुलसी कृत 'रामचरितमानस' नामक महाकाव्य. ऐसे ही, सनातन धर्म बौद्धों, जैनों के धर्मग्रंथों को धर्मग्रंथ नहीं मानता तो वे सनातनियों के धर्मग्रंथों को नहीं मानते.

इतना ही नहीं, सनातनियों के धर्मग्रंथ खुद सनातनियों के धर्मग्रंथों की निंदा करते हैं. उपनिषदों और गीता में वेदों और उन में प्रतिपादित कर्मकांड की निंदा स्पष्ट मिलती है. न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग की निंदा करते हैं. वेदांत सभी की निंदा करता है.

शिव पुराण शैवों के लिए जितना प्रामाण्य है, उतना वैष्णवों के लिए नहीं. उन के लिए भागवत और विष्णु पुराण का ही महत्त्व है. दुर्गा भक्तों के लिए मार्कंडेय पुराण और देवी भागवत का महत्त्व है. अट्ठारह पुराणों में एकदूसरे पर खूब छींटाकशी की गई है. ऐसे में सब हिंदुओं के लिए कौन सी पुस्तक धर्मग्रंथ रह जाती है? यदि कोई हो भी तो उसे धर्म की किस परिभाषा में शास्त्र व धर्मग्रंथ कहा गया है?

वेदों को एक वर्ग धर्मग्रंथ मानता है लेकिन भारत में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में महापुरुष माने जाने वाले महामानव बुद्ध ने वेदों को 'जलविहीन कांतार' कहा है. उन्होंने वेदों को जलविहीन जंगल और वास्तविक विनाशपथ भी कहा है. उन का कथन है कि कोई भी आदमी जिस में बौद्धिक तथा नैतिक प्यास है वह

वेदों के पास जा कर अपनी प्यास नहीं बुझा सकता. (देखें–तेविज्ज सुत्त, 1-13 दीर्घनिकाय.)

खुद गीता में भी वेदों की निंदा की है. गीता में आता है कि 'जैसे बड़े और सब ओर से जल से परिपूर्ण जलाशय को प्राप्त कर के छोटे जलाशय से कोई प्रयोजन नहीं रहता उसी तरह यथार्थ ज्ञान को जानने वाले व्यक्ति के लिए वेदों का कोई प्रयोजन नहीं रहता.' (गीता 2-46)

इसी अध्याय के श्लोक नंबर 42, 43, 44 और 45 में भी वेदों की निंदा की गई है.

प्राचीन चार्वाक मत भी वेदों को सम्मान नहीं देता. 14वीं शताब्दी में लिखे गए सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रंथ में चार्वाक मत का उल्लेख है, जिस में कहा गया है कि वेदों के कर्ता भंडधूर्त और निशाचर थे. आठवीं सदी में हुए प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने वेदों को मानने को मूर्खता के पांच चिह्नों में से एक कहा है.

मनु ने सामवेद को अपवित्र कहा है. (मनुस्मृति 4-124)

आर्यसमाजी 18 पुराणों और विभिन्न स्मृतियों, तंत्र ग्रंथों और तुलसी रामायण (रामचरितमानस) जैसी पुस्तकों को कपोलकल्पित कहते हैं तथा सिर्फ वेदों को मानने की बात करते हैं. वैष्णव और अद्वैतवाद विरोधी लोग शंकराचार्य के अद्वैतवाद को 'मायावादं असत् शास्त्रम्' कह कर गालियां देते हैं.

भारतीय संविधान के पितामह डा. बी. आर. अंबेडकर का मत है कि वेदों को पढ़ने के बाद मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि ये विदूषक के कथन के सिवा कुछ भी नहीं हैं. उन्होंने गीता के बारे में कहा है कि मुझे बड़े दुख के साथ कहना पड़ता है कि मुझे इस पुस्तक (गीता) में कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं मिली. इस पुस्तक ने इस देश का महान अनर्थ किया है.

(24 सितंबर 1944 को मद्रास में दिया गया भाषण)

दरअसल, शास्त्र का अर्थ कहीं भी धर्मग्रंथ नहीं रहा. इस का अर्थ सिर्फ 'ग्रंथ' (पुस्तक) रहा है. मनु ने लिखा है: धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः (मनु. 2-10) अर्थात स्मृति को धर्मशास्त्र का धर्मग्रंथ कहते हैं. यदि शास्त्र का अर्थ धर्मग्रंथ होता तो मनु को लिखना चाहिए था 'शास्त्रं तु वै स्मृतिः' अर्थात शास्त्र को स्मृति कहते हैं. लेकिन उस ने धर्मशास्त्र शब्द लिखा, जिस का अर्थ है–ऐसा शास्त्र, ऐसा ग्रंथ, जिस में धर्म का प्रतिपादन हो. मनु ने अपनी स्मृति में और भी बहुत से स्थानों पर 'धर्मशास्त्र' शब्द का ही प्रयोग किया है. याज्ञवल्क्य स्मृति में भी 'धर्मशास्त्र' शब्द का ही प्रयोग मिलता है. न्यायभाष्य (4-1-62) में भी धर्मशास्त्र शब्द का ही प्रयोग है. धर्मशास्त्रों के आधुनिक काल के अधिकारी विद्वान भारतरत्न डा. पी. वी. काणे ने अंकों में लिखित अपनी पुस्तक का नाम

'धर्मशास्त्र का इतिहास' रखा है न कि 'शास्त्र का इतिहास'. बनारस से एक पुस्तक छपी है–'संस्कृतशास्त्रों का इतिहास'. उस में अकेले धर्मग्रंथों का इतिहास न हो कर व्याकरणशास्त्र, अलंकारशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्रों का इतिहास है. ऐसे प्रमाणों के विद्यमान होने पर शास्त्र का अर्थ धर्मग्रंथ कोई किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकता.

कुछ लोग गीता के निम्नलिखित श्लोक पेश करते हैं–

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:.
न स सिद्धिमवप्नोति न सुखं न परां गतिम्..

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितो.
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि..

(गीता 16-23-24)

(जो शास्त्रों में लिखित विधि को छोड़ कर मनमाने ढंग से आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख को और न परम गति को. (23) अत: कर्तव्यअकर्तव्य के निश्चय के लिए तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए. शास्त्र में अंकित विधान को समझ कर आचरण करना चाहिए. (24) इन श्लोकों के आधार पर उन का कहना है कि यहां शास्त्र से अभिप्राय 'धर्मग्रंथ' है. अत: शास्त्र का अर्थ धर्मग्रंथ है.

लेकिन इस बैसाखी के सहारे शास्त्र का अर्थ धर्मशास्त्र सिद्ध नहीं किया जा सकता. यदि शास्त्र का अर्थ धर्मग्रंथ होता तो मनु धर्मशास्त्र शब्द का प्रयोग न करता. यहां भी शास्त्र का अर्थ धर्मशास्त्र न हो कर केवल ग्रंथ है. 'धर्मशास्त्रों' की तो गीता में कई जगह निंदा व उपेक्षा की गई है, विशेषत: वेदों की. यदि 'शास्त्र' से गीताकार का आशय 'धर्मशास्त्र' होता तो उस ने दूसरों को उन्हें प्रमाण मानने का उपदेश देते हुए खुद उन की निंदा व उपेक्षा नहीं करनी थी, जैसी कि उस ने स्पष्टतौर पर वेदों की है. (देखें, गीता, अ. 2, श्लोक 45, 46, 52)

पूर्वोक्त गीता के श्लोकों का सीधा अर्थ इस प्रकार बनेगा– जो ग्रंथों में लिखित विधि को छोड़ कर मनमाने ढंग से आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख को और न परम गति को. (23) अत: कर्तव्यअकर्तव्य प्रतिपादक ग्रंथ तेरे लिए प्रमाण स्वरूप होने चाहिए. उन में प्रतिपादित विधान को समझ कर आचरण करना चाहिए. (24)

आठवीं शताब्दी में हिंदू धर्म को पुन: प्रतिष्ठित करने वाले आदि शंकराचार्य ने शास्त्रों को अविद्या (अज्ञान) के समान कहा है: 'अविद्यावद् विषयाण्येव, प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च.' (ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य, भूमिका, पैरा नं. 9) अर्थात 'प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्या (अज्ञान समान)' कह कर, उस की निंदा न करता. स्पष्ट है कि इस का अर्थ धर्मग्रंथ से भिन्न है. वेदांतियों ने शास्त्रों

की उपमा गीदड़ों से की है. गीतारहस्य (पृ. 196) में श्रीतिलक ने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है: तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा. न गर्जति महाशक्तिः यावद् वेदान्तकेसरी.. अर्थात शास्त्र जंगल में गीदड़ों की तरह तब तक गरजते हैं जब तक वेदांत रूपी महाशक्तिशाली शेर नहीं गरजता. उस के गरजने पर शास्त्र रूपी गीदड़ भाग जाते हैं व चुप हो जाते हैं.

ऐसा ही जैन आचार्य कुंदकुंद ने 'समयसार' में शास्त्र और ज्ञान में भेद बताते हुए लिखा है– सत्यं णाणं ण हवइ, जम्हा सत्यण याणए किंचि. तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सत्यं जिणा बिंति.. (शास्त्र, ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि शास्त्र स्वयं में कुछ नहीं जानता. अतः, ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य.)

इसी बात को संस्कृत की एक पुरानी पुस्तक पंचतंत्र में प्रकारांतर से कहा गया है– अधीत्यापि शास्त्राणि भवन्ति मूर्खाः (शास्त्र पढ़ कर भी आदमी मूर्ख के मूर्ख रहते हैं.)

यदि 'शास्त्र' का अर्थ धर्मग्रंथ होता तो शास्त्र शब्द के आगे सत या असत विशेषण का प्रयोग नहीं हो सकता था. परंतु ऐसा होता है. मायावाद को 'असत शास्त्र' कहा गया है, और स्वामी दयानंद सरस्वती ने स्थानस्थान पर 'वेदादि सत शास्त्र' का प्रयोग किया है. यदि शास्त्र का अर्थ धर्मग्रंथ होता तो सब धर्मग्रंथ समान होने के कारण सत या असत विशेषण शास्त्र शब्द के साथ प्रयुक्त हो ही नहीं सकते थे. धर्मग्रंथ सच्चे व झूठे कैसे हो सकते हैं? वे तो एक कोटि के हो सकते हैं, अतः शास्त्र के आगे सत व असत विशेषण से स्पष्ट है कि ये सच्चे या झूठे ग्रंथों के वाचक हैं, न कि सच्चेझूठे धर्मग्रंथों के–असत शास्त्र (झूठे ग्रंथ) और सत शास्त्र (सच्चे ग्रंथ).

व्याकरणिक दृष्टि से भी शास्त्र शब्द का अर्थ धर्मग्रंथ नहीं बनता, यह शब्द शास धातु से करण (साधन) अर्थ में 'ष्ट्रन' प्रत्यय लगाने से बनता है. 'ष्ट्रन' का 'त्र' शेष रहता है. शास धातु का अर्थ है–'पढ़ाना, शिक्षा देना, शासन करना, ठीक करना और परामर्श देना.' 'शास्यते अनेन इति शास्त्रम्'–जिस से शासन अर्थात पढ़ाया जाए, या किसी को ठीक किया जाए, या किसी को परामर्श दिया जाए, या किसी पर राज्य किया जाए–वह शास्त्र है'. इस से स्पष्ट है कि स्कूलकालिजों के पाठ्यक्रम, दफ्तरों के ऐसे आदेश पत्र जिन में किसी पूर्ववर्ती आदेश को संशोधित किया जाए, मोटर मैकेनिक, कार रिपेअर, स्कूटर सेल्फ रिपेअर गाइड, बड़ों या हम उमरों द्वारा अपने प्रियों व दोस्तों को परामर्श देने वाले पत्र या सरकारी कानून, सरकारी कर्मचारी आदि, सब 'शास्त्र' हैं.

व्याकरण की दृष्टि से 'शास्त्र' शब्द पर विचार करने से इस बात की गंध तक नहीं आती कि इस का अर्थ 'धर्मग्रंथ' है.

इस तरह हम देखते हैं कि शास्त्र शब्द एक सामान्य शब्द है जिस का किसी धर्म से कोई संबंध नहीं है. यह काम और अर्थ जैसे नितांत गैरधार्मिक और भौतिक

आदि वैज्ञानिक वाङ्मय का भी उसी तरह वाचक है, जैसे न्याय, अलंकार, धर्म आदि विषयों का वाचक है.

यदि शास्त्र का अर्थ धर्मग्रंथ ही लेने का हठ हो तो हमारा निवेदन है कि धर्मग्रंथों में ऐसे बहुत से स्थल हैं जो आज की परिस्थितियों में कूड़ेकरकट के समान त्याज्य हैं. इसी में हिंदू समाज का भला है. इसी में देश का हित है.

कुछ ऐसे स्थल निम्नलिखित हैं:

हिंदू धर्मशास्त्रों में बालविवाह के बहुत गुण गाए गए हैं. संवर्त स्मृति में कहा गया है–

> अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी.
> दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला..(66)
>
> माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च.
> त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्..(67)
>
> तस्माद्विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्.
> विवाहो ह्यष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते..(68)

अर्थात आठ वर्ष की लड़की को गौरी, नौ वर्ष की लड़की को रोहिणी और दस वर्ष की लड़की को कन्या कहते हैं. इस के पश्चात लड़की रजस्वला (मासिक धर्म वाली) कहलाती है. (66) जिस मनुष्य के घर में अविवाहिता रजस्वला लड़की मौजूद है, वह घर कलंकित है. उस के माता, पिता और भाई उसे (अविवाहिता रजस्वला लड़की को) देख कर नरक को जाते हैं. (67) इस कारण लड़की के ऋतुमती (मासिक धर्म वाली) होने से पहले ही उस का विवाह करना चाहिए; अष्टम वर्ष में कन्या का विवाह होना बहुत प्रशंसनीय है. (68)
पराशर स्मृति में कहा गया है–

> प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति.
> मासिमासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरः स्वयम्..
>
> (पराशर स्मृति 7-7)

अर्थात कन्या की आयु बारह वर्ष की होने पर भी जो पिता उस का विवाह नहीं करता, वह प्रतिमास उस के मासिक धर्म में बहने वाले रक्त को पीता है.
वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है–

> पितुः प्रमादात्तु यदीह कन्या.
> वयः प्रमाणं समतीत्य दीयते..
> सा हन्ति दातारमुवीक्षमाणा.
> कालाऽतिरिक्ता गुरुदक्षिणेव..(61)
>
> प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता.

ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति..(62)

यावच्च कन्यामृतवः स्पर्शन्ति-
तुल्यैः सकामामभियाच्यमानाम्.
भ्रूणानि तावन्ति हतानि ताभ्यां-
मातापितृभ्यामिति धर्मपादः..(63)

अर्थात पिता के द्वारा कन्यादान होने से पहले यदि कन्याकाल व्यतीत हो जाए, वह रजस्वला हो जाए तो ऐसी कन्या उचित समय के बाद दी गई गुरु दक्षिणा की तरह दृष्टिमात्र से ही दाता अर्थात कन्यादान करने वालों को पापग्रस्त करती है. (61) अतः रजस्वला होने के भय से, मासिक धर्म शुरू होने से पहले ही, पिता कन्यादान करे क्योंकि ऋतुमती कन्या के अविवाहित रहने से पिता को दोष लगता है. (62) सकाम कन्या के लिए योग्य वर भी मिल रहा है तो भी यदि ऋतुकाल से पहले कन्यादान न किया जाए तो उस कन्या को जितनी बार मासिक धर्म होगा, उतनी बार मातापिता को गर्भपात का पाप लगेगा. (63)

याज्ञवल्क्य स्मृति (1-64) कहती है–

अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतो..(64)

अर्थात जो मनुष्य अपनी कन्या का ऋतुकाल (मासिक धर्म शुरू होने से) से पहले दान नहीं करता, वह कन्या के प्रत्येक मासिक धर्म के होने पर भ्रूणहत्या (गर्भपात) के पाप को प्राप्त होता है.

ऐसे और भी बहुत से प्रमाण धर्मशास्त्रों से जुटाए जा सकते हैं, जिन से यह सिद्ध होता है कि हिंदू धर्मशास्त्र बालविवाह का अनुलंघनीय विधान करते हैं.

धर्मशास्त्रों में छुआछूत की शिक्षा देते हुए कहा है–

चाण्डालं पतितं स्पृष्ट्वा शवमन्त्यजमेव च.
उदक्यां सूतिकां नारीं सवासः स्नानमाचरेत्..

(संवर्त स्मृति-178)

अर्थात चांडाल, पतित, मुरदा, अछूत, रजस्वला और दस दिन के भीतर सूतिका स्त्री–इन का स्पर्श कर के वस्त्रों सहित स्नान करें.

असंस्पृष्टेन संस्पृष्टः स्नानं तेन विधीयते.

(अत्रि स्मृति-74)

अर्थात अस्पृश्य चांडालादि जातियों से स्पर्श करने वाले मनुष्य के लिए स्नान का विधान है.

चांडालश्वपचैः स्पृष्टे निशि स्नानं विधीयते.

(यम स्मृति-64)

अर्थात चांडाल अथवा श्वपच यदि रात में भी छू ले तो द्विजातियों (शूद्रों को छोड़ कर शेष सब लोग) को स्नान करना चाहिए.

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा.
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धयति..

(मनु. 5-85)

अर्थात दिवाकीर्ति (चांडाल), रजस्वला, पतित, और श्वपच जाति के व्यक्ति को छूने वाले की स्नान करने से शुद्धि होती है.

चाण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः.
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्..

(मनु. 10-51)

अर्थात चांडाल और श्वपच इन का वास गांव से बाहर हो. इन के पात्र स्पर्श न किए जाएं.

रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च.

(मनु. 10-54)

अर्थात उपर्युक्त जातियों के लोग रात्रि में गांव और नगर में न घूमें.

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः..

(मनु. 10-55)

अर्थात दिन में भी राजकीय चिह्नों से चिह्नित हो कर अपने कार्य के लिए जाएं.

चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत्.
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत्..

(पराशर स्मृति 6-24)

अर्थात चांडाल के दर्शन कर के सूर्य के दर्शन करें, तब शुद्ध होता है; और चांडाल का स्पर्श कर के वस्त्रों सहित स्नान करें.

विधवा विवाह का निषेध करते हुए मनु का आदेश है–

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः.

(मनु. 9-65)

अर्थात विवाह विधि में विधवा का पुनः विवाह करना कहीं नहीं बताया है.

सकृत्कन्या प्रदीयते.

(मनु. 9-47)

अर्थात कन्या का दान अर्थात विवाह एक ही बार किया जाता है, बारबार नहीं.

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः.
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु..

(मनु. 5-157)

अर्थात पति की मृत्यु के अनंतर स्त्री पुष्प, मूल और फल खा कर ही जीवन धारण करे, अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष का कभी नाम तक न ले.

अनुसूचित जातियों व जनजातियों या पिछड़ी जातियों के लोग, जिन्हें कि धर्मशास्त्रों में शूद्र कहा गया है, के बारे में धर्मशास्त्रों के आदेश हैं–

अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरनमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद:.

(गौतम धर्मसूत्र 2-3-4)

अर्थात यदि शूद्र किसी को वेद पढ़ते सुन ले तो उस के कानों में पिघला हुआ सिक्का और लाख डाल देनी चाहिए. यदि शूद्र वेदमंत्र का उच्चारण करे तो उस की जीभ कटवा देनी चाहिए. शूद्र वेद को याद करे, तो उस का शरीर चीर डालना चाहिए.

धर्मग्रंथ भेदभाव विधान करते हैं–

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुव:.
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न्न तु शूद्र: कथंचन..

(मनु. 8-20)

अर्थात ब्राह्मण चाहे अयोग्य ही हो, सिर्फ वही न्यायाधीश बन सकता है. शूद्र चाहे योग्य ही क्यों न हो, न्यायाधीश बनने का अधिकारी नहीं.

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्.
तस्य सीदति तद् राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यत:..

(मनु. 8-21)

जिस राजा के राज्य में शूद्र न्यायाधीश होता है, उस का राज्य मुसीबत में फंस कर ऐसे दुखी होता है, जैसे कीचड़ में धंसी गाय.

भारतीय संविधान में सब के लिए, वे चाहे किसी जाति के हों, समान अपराध के लिए समान दंड का विधान है (देखें, अनुच्छेद 14) लेकिन हिंदू धर्मग्रंथों का मत है–

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्ड: कार्यो विजानता.
ब्राह्मणे साहस: पूर्व: क्षत्रिये त्वेव मध्यम:..

(मनु. 8-276)

अर्थात ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि एकदूसरे की निंदा करें तो राजा ब्राह्मण को 250 पण और क्षत्रियों को 500 पण से दंडित करे.

धर्मशास्त्रों में व्यभिचार के उपदेश दिए गए है. उदाहरणार्थ निम्नलिखित स्थल देखे जा सकते हैं–

गौतम धर्मसूत्र में लिखा है:

अपतिरपत्यलिसुर्देवरात्.

(2-9-4)

अर्थात विधवा नारी यदि पुत्र प्राप्त करना चाहे तो देवर से संभोग कर के प्राप्त कर सकती है.

पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा.

(2-9-6)

अर्थात यदि देवर न हो, या उस से पुत्र न प्राप्त करने की इच्छा हो, तो इन में से किसी अन्य से प्राप्त कर ले–सपिंड (अपनी सात पीढ़ियों का कोई व्यक्ति), सगोत्र (जिन का गोत्र समान हो), सप्रवर (एक ही ऋषि को मानने वाले या एक ही ऋषि के वंशज) या अपनी जाति का कोई भी व्यक्ति.

वसिष्ठ धर्मसूत्र (17-56-65) में लिखा है–

विधवा के साथ नियुक्त व्यक्ति को, जो प्राय: उस के मृत पति का भाई होता है, सूर्योदय से 45 मिनट पूर्व अर्थात 'प्रजापति वाले मंगल मुहूर्त' में संभोग के लिए जाना चाहिए.

भारतीय संविधान के मुताबिक– किसी भी व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति की संपत्ति छीनने का अधिकार नहीं है, देखें अनुच्छेद 31 (1) . हर व्यक्ति को संपत्ति का कानूनी अधिकार है लेकिन हिंदू धर्मग्रंथों का निर्देश है–

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनांगेन यज्वन:.
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि..
यो वैश्य: स्याद् बहु पशुर्हीनक्रतुरसोमप:.
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद् यज्ञसिद्धये..

(11-11-12)

यज्ञ करते हुए ब्राह्मण का यदि धनाभाव के कारण एक अंग से यज्ञ पूरा न हो रहा हो तो राजा के धर्मात्मा होने पर, वह यज्ञकर्ता ब्राह्मण वैश्य के घर से आवश्यक चीजें ला सकता है. यदि वह मांगने पर न दे तो बलात् चोरी द्वारा ब्राह्मण उन्हें प्राप्त करे. धर्मात्मा राजा ऐसे काम के लिए ब्राह्मण को दंडित न करे.

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मन:.
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रह:..

(मनु. 11-13)

यज्ञ दो या तीन अंगों से, धनाभाव के कारण, पूरा न हो रहा हो तो उस की पूर्णता के लिए वैश्य के यहां से धन न मिलने पर, हठात या चोरी से, धनवान शूद्र के यहां से धन लाए.

विस्रब्धं ब्राह्मण: शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्..

(मनु. 8-417)

ब्राह्मण के लिए उचित है कि वह शूद्र का धन बिना किसी भय के व संकोच के ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ भी नहीं है.

मनुस्मृति (9-59-61) में कहा गया है कि पुत्रहीन स्त्री को अपने देवर या पति के सपिंड से पुत्र उत्पन्न करने चाहिए. उस पुरुष के शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए–

देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया.
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये..(59)

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि.
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन..(60)

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विद:..(61)

यही बात बौधायन धर्मसूत्र (2-2-67-70), याज्ञवल्क्य स्मृति (1-68-69) एवं नारद सूत्र (पुंस, 80-73) में भी पाई जाती है.

इन्हीं आदेशों को मानते हुए कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में कानून बनाए. उस का कथन है कि बूढ़े एवं असाध्य रोग से पीड़ित राजा को चाहिए कि वह अपनी रानी का किसी मातृबंधु या अपने किसी सामंत से नियोग करवा कर पुत्र उत्पन्न करा ले.

(देखें, अर्थशास्त्र 1-17)

एक अन्य स्थान पर कौटिल्य का कहना है कि यदि कोई ब्राह्मण बिना सन्निकट उत्तराधिकारी के मर जाए तो उस की पत्नी का किसी सगोत्र या मातृबंधु (मां की तरफ से जो रिश्तेदार हो यथा मामा आदि) से नियोग करवाना चाहिए. उस से उत्पन्न पुत्र उक्त ब्राह्मण की जायदाद प्राप्त करेगा.

(अर्थशास्त्र 3-6)

यह व्यभिचार जैसा धार्मिक रस्म 'नियोग' इनसानी गरिमा के सिद्धांत का भी हनन करती है, क्योंकि इस में स्त्री को बच्चे पैदा करने की मशीन मात्र बना दिया गया है.

सती प्रथा एक क्रूर प्रथा रही है, जिसे धर्म के नाम पर सदियों बनाए रखा गया. राजा राममोहन राय जैसे सुधारकों के अथक प्रयासों के परिणाम स्वरूप इसे कानूनन अपराध बनवाया गया था. यह प्रथा मनुष्य की हत्या करने के समान है. यह इनसानी गरिमा के विरुद्ध तथा लिंग के आधार पर भेदभाव करती है (अनुच्छेद 15, 21 और प्रस्तावना). विष्णु स्मृति में कहा गया है–

नारी भर्त्तारमासाय यावन्न दहतेतनुम्.
तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात् कथंचन..

अर्थात पति की लाश को पकड़ कर जब तक स्त्री उस के साथ अपने को

आग में नहीं जलाती, तब तक उस का स्त्री शरीर से छुटकारा नहीं होता है और न उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है.

धर्मशास्त्रों में सती प्रथा के नाम पर आत्महत्या करने के लिए स्त्रियों को बहकाते हुए लिखा है–

तिस्त्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे.
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति..
व्यालग्राही यथा सर्प बलादुद्धरते बिलात्..
तद्धदुद्धत्य सा नारी सह तनैव मोदते..

(पराशर स्मृति 4-32-33 ब्रह्म पुराण एवं गौतमी माहात्म्य, 10-76, 74)

तत्र सा भर्तृपरमा सत्तमानाप्सरोगणैः.
क्रीडते पतिना सार्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश..

ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत्पतिः.
पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता तु या..

मृते भर्तरि या नारी समारोहेत्हुताशनम्.
सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीयते..

यावच्चाग्नां मृते पत्यां स्त्री नात्मानं प्रदाहयेत्.
तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात्कथंचन..

(याज्ञवल्क्य स्मृति, 1-86, पर मिताक्षरा, अपरार्क, पृ. 110 शुद्धितत्त्व, पृ. 234)

अर्थात जो नारी पति की मृत्यु का अनुसरण करती है, उस के साथ ही चिता में जल जाती है, वह साढ़े तीन करोड़ वर्षों तक, जितने कि मनुष्य के शरीर पर रोम होते हैं, स्वर्ग में विराजती है. जिस प्रकार सपेरा सांप को उस के बिल से खींच लेता है, उसी प्रकार सती होने वाली स्त्री अपने पति का उद्धार करती है और उस के साथ कल्याण पाती है. स्वर्ग में वह पति के साथ तब तक रहती है, जब तक चौदह इंद्र रहते हैं. वहां अप्सराएं उस की प्रशंसा करती हैं. पति चाहे ब्रह्मचारी हो, चाहे कृतघ्न हो, चाहे मित्रघाती हो, यदि उस की पत्नी उस के साथ जीवित जल मरे तो वह पति को पवित्र बना देती है. मृत पति के साथ जो नारी अग्नि में प्रवेश करती है, वह अरुंधती के समान स्वर्ग में यश पाती है. जब तक नारी मृत पति के साथ नहीं जलती, तब तक उस का स्त्री शरीर से छुटकारा नहीं अर्थात स्त्री के रूप में अपने दुबारा जन्म को रोकने के लिए स्त्री को सती होना चाहिए.

वृद्धहारीत स्मृति में लिखा है–

मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता.(199)
या स्त्री मृतं परिष्वज्य दग्धा चैद्वव्यवाहने.
सा भर्तृलोकमाप्नोति हरिणा कमला यथा..(200)

साध्वीनामिह नारीणामग्निप्रपतनादृते.
नान्यो धर्मोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्तरि कुत्रचित्..(202)

(वृद्धहारीत स्मृति, अध्याय 11)

अर्थात जो स्त्री मृतपति के साथ मर जाती है, उसे पतिव्रता समझना चाहिए. जो स्त्री मृतपति का आलिंगन कर अग्नि में प्रवेश करती है, वह पतिलोक को प्राप्त करती है, जैसे विष्णु के साथ लक्ष्मी, भली स्त्रियों के पास इस के सिवा और कोई चारा नहीं कि वे मृतपति के साथ आग में कूद पड़ें.

हिंदू धर्मग्रंथों में पुरुषमेध यज्ञ करने का विधान है. उस के बहुत गुण गाए गए हैं–

'ब्राह्मणराजन्ययोरतिष्ठाकामयो: पुरुषमेधसंज्ञको यज्ञो भवति.'

(यजु. 30-2 पर महीधर भाष्य)

अर्थात जो ब्राह्मण या क्षत्रिय देवताओं से भी ऊंचे रुतबे तक पहुंचना चाहते हों, उन्हें पुरुषमेध (ऐसा यज्ञ जिस में पुरुष की बलि दी जाती है) यज्ञ करना चाहिए.

इसी तरह 'देवी भागवत' में कहा गया है–

प्रार्थनीयस्त्वया पुत्र: कस्यचिद्विजवादिन:.
द्रव्येन देहि यज्ञार्थं कर्तव्योऽसौ पशु: किल..

(स्कंध 6, अध्याय 3)

अर्थात द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का पुत्र यज्ञ में पशु की तरह मेरे हेतु बलि चढ़ाने से तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा.

ब्रह्मवैवर्त पुराण में तो इस पैशाचिक लीला का अथ से इति तक विधिविधान भी लिखा मिलता है. काफी हद तक यह विधान आज भी नरबलियों के लिए अपनाया जाता है.

पितृमातृविहीनं च युवकं व्याधिवर्जितम्.
विवाहितं दीक्षितं च परदार विहीनकम्.. (101)

अजारजं विशुद्धं च सच्छूद्रमूलकं वरम्.
तद्बन्धुभ्यां धनं दत्वा क्रीतं मूल्यातिरेक्त:.. (102)

स्नानपयित्वा च तधर्मी सम्पूज्य वस्त्रचन्दने:
मात्यैर्धूपेश्च सिन्दूरेर्दधि गोरोचनादिभि:.. (103)

तं च वर्ष भ्रामयित्वा चरद्वारेण यत्नत: (वर्षान्त).
च समुत्सृज्य दुर्गायै तं निवेदयेत्.. (104)

अष्टमी नवमी सन्धौदयान्मायातिमेव च.
इत्येवं कथितं सर्व बलिदानं प्रसंगत:.. (105)

बलिं दत्वा च स्तुत्वा च धृत्वा च कवचं बुध:.

प्रणम्यदण्डवद् भूमौ दद्यात् विप्राय दक्षिणाम्.. (106)

(ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृति खंड 2, अध्याय 64)

अर्थात बलिदान देने वाले को चाहिए कि वह एक ऐसा युवक लाए जिस के मांबाप न हों, जिसे कोई शारीरिक रोग न हो, वह विवाहित हो, उस का परनारी से संबंध न हो अर्थात वह सदाचारी हो, व्यभिचार से उस का जन्म न हुआ हो. उस के बंधुओं को विशेष धन दे कर उस युवक को खरीद ले. उस बलि दिए जाने वाले युवक को स्नान कराए तथा वस्त्र, चंदन, सिंदूर, दही, गोरोचन आदि से उस की पूजा करे. अपने नौकर द्वारा उसे एक साल तक बाहर इधरउधर घुमाए, वर्ष के अंत में अष्टमी और नवमी तिथि की संधि में उस युवक को दुर्गा पर बलि चढ़ा दे. इस प्रकार बलिदान का उल्लेख किया गया है. बुद्धिमान पुरुष बलि दे कर, दुर्गा की स्तुति कर के, दुर्गा कवच धारण करे तथा भूमि पर लेट कर दंडवत करे. तत्पश्चात बलिदान करवाने वाले ब्राह्मण को दक्षिणा दे.

इस प्रकार के क्रूर कृत्यों से कहीं मानव विमुख न हो जाए, इसे ध्यान में रखते हुए धर्माचार्यों ने स्पष्ट किया है–

शास्त्रहेतुत्वाद् धर्माधर्मविज्ञानस्य शास्त्राच्च हिंसानुग्रहात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः **(ब्रह्मसूत्र 3-1-25 पर शंकरभाष्य)**

धर्मअधर्म का निर्णय ग्रंथों में किया गया है और उन में हिंसामय यज्ञों को धर्म कहा गया है. अतः यह कृत्य पापरहित है.

इसी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए भक्तिमार्ग के आचार्य रामानुज का कथन है– पशोर्हिसंज्ञपननिमित्तां स्वर्गलोकप्राप्तिं वन्दतं शब्दमामनन्ति हिरण्यशरीर ऊर्ध्वं स्वर्गलोकमेति हत्यादिकम्. अतिशयाभ्युदयसाधनभूतो व्यापार अल्पदुखदोपि न हिंसा, प्रत्युत रक्षणमेव.

अर्थात प्रामाणिक ग्रंथों में कहा है कि जिस की यज्ञ में हत्या की जाती है, वह सोने का शरीर धारण कर के स्वर्ग को जाता है. इस तरह यज्ञ में मारा जाने वाला थोड़ा कष्ट सह कर बहुत लाभ प्राप्त करता है. अतः उस का इस में भला ही है.

हिंदू धर्मग्रंथों में धर्म के नाम पर आत्महत्या सराहनीय रूप में पेश की गई है. अति प्राचीन काल से इस का प्रचलन दीख पड़ता है. सर्वप्रथम ऋग्वेद में इस का स्वर्ग और धन प्राप्त करने के साधन के तौर पर उल्लेख मिलता है.

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः.
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आ विवेश..

(ऋग्वेद 10-81-1)

अर्थात हमारे पिता और होता (हवन करने वाला पुरोहित) विश्वकर्मा प्रथम सारे संसार का हवन कर के स्वयं भी अग्नि में पैठ गए. स्तोत्रादि के द्वारा स्वर्गधन की कामना करते हुए वे प्रथम सारे जगत में अग्नि का आच्छादन करने के पश्चात

1700/6

समीप के भूतों के साथ स्वयं भी हुत हो गए व अग्नि में पैठ गए.

यहां स्पष्टतौर पर आत्मदाह करने का फल स्वर्ग और धन की प्राप्ति कहा गया है.

वाल्मीकि रामायण में ऐसी ही एक और धार्मिक आत्महत्या का उल्लेख है जिस के परिणाम स्वरूप आत्मघाती का सर्वोच्च पद को प्राप्त करना बताया गया है. इस आत्महत्या में खुद भगवान (?) राम की सहमति है—

एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम्.
यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरग:..(38)

ततोऽग्निं स सुसमाधाय हुत्वा चाज्येन मंत्रवित्.
शरभंगो महातेजा: प्रविवेश हुताशनम्..(39)

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च भावितात्मनाम्.
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत्..(43)

(अरण्यकांड, पंचम सर्ग)

अर्थात हे राम, कृपया मेरी ओर तब तक देखते रहो, जब तक कि मैं अपने शरीर को इस तरह त्याग नहीं देता जिस तरह सांप अपनी केंचुली त्यागता है. (38) तब शरभंग ऋषि ने अग्नि जलाई, उस में विधिवत हवन किया और खुद अग्नि में प्रविष्ट हो गए. (39) वह उन लोकों को लांघ गए जो हवन करने वाले ऋषियों और महात्माओं को मिलते हैं. वह देवलोक को भी लांघ गए और ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए. (43)

श्रीशैल, प्रयाग और बनारस में शिला या आरे पर गिर कर धार्मिक आत्महत्या का प्रचलन भी हिंदूधर्म में शताब्दियों तक जारी रहा. इन पवित्र तीर्थों में धर्म के ठेकेदार पंडों द्वारा ये धार्मिक आत्मघातशालाएं खोली हुई थीं. पूजापाठ के पश्चात पूर्ण दक्षिणा ले कर पंडा आत्महत्या के इच्छुक को आरे या शिला पर गिरा देता था. यह आत्महत्या परलोक (?) में स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से की जाती थी. यह आत्महत्या 'करवत व्रत' या 'क्रकच व्रत' के नाम से जानी जाती है.

लिंग पुराण (पूर्वार्ध, 92-168-169) तथा कूर्म पुराण (2-37-13-14) का कथन है—'यदि कोई ब्राह्मण श्रीशैल पर अपनेआप को मार डालता है तो वह अपने पापों को काट डालता है और मोक्ष पाता है, जैसे अविमुक्त (वाराणसी) में ऐसा करने से प्राप्त होता है, इस में कोई संदेह नहीं.'

प्रयाग में गंगायमुना के संगम पर आत्महत्या का तो प्राय: सभी हिंदू धर्मग्रंथों में उपदेश मिलता है.

न वेदवचनात्तात न लोकवचनादपि.
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति..

वनपर्व (85-83), नारदीय पुराण (उत्तर, 63-129), पद्म पुराण (आदि-39-76), अग्नि पुराण (111-8), मत्स्य पुराण (106-22), कूर्म पुराण (1-37-14), पद्म पुराण (33-64).

अर्थात चाहे देववचन और लोकवचन निषेध करें तो भी प्रयाग में आत्महत्या करने के विचार से टलना नहीं चाहिए, इस का त्याग नहीं करना चाहिए.

कूर्म पुराण में आता है–'वह लक्ष्य जो योगियों या संन्यासियों को प्राप्त होता है, वह उन लोगों को भी प्राप्त होता है जो गंगायमुना के संगम पर प्राण त्यागता है. जो भी कोई जानबूझ कर या अनजाने में गंगा में मरता है, वह स्वर्ग में जन्म लेता है और नरक को नहीं देखता.' यही बात पद्म पुराण (सृष्टि खंड 60-65) में कही गई है. स्कंद पुराण में वाराणसी में आत्महत्या करने पर मनोवांछित फल प्राप्त होने की बात कही गई है. (देखें – काशी खंड, 22-76)

कूर्म पुराण (1-38-3-12) में चार प्रकार की आत्महत्याओं का उल्लेख किया गया है और उन से सहस्त्रों वर्षों तक स्वर्गलोक का आश्वासन एवं उत्तम फलों की प्राप्ति की ओर भी संकेत किया है, वे आत्महत्याएं ये हैं–

1. सूखे उपलों की धीमी अग्नि में अपने को जलाना.
2. गंगायमुना के संगम में डूब मरना.
3. गंगा की धारा में सिर नीचे कर जल पीते हुए खड़े रह कर मर जाना.
4. अपने शरीर के मांस को काटकाट कर पक्षियों को देना.

धर्मशास्त्रीय कई अर्वाचीन ग्रंथों यथा गंगा वाक्यावली (पृ. 304-310) तीर्थ चिंतामणि (पृ. 47-52) एवं तीर्थ प्रकाश (346-355) में भी प्रयाग में धार्मिक आत्महत्या करने का विधान है.

वनपर्व (83-146-147) में पृथदक (हरियाणा के करनाल जिले में पिहोवा) में आत्महत्या की बात चलाई है. ब्रह्म पुराण (177-25) में मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले द्विजों को पुरुषोत्तम क्षेत्र में आत्महत्या करने को कहा है. पद्म पुराण (आदि 16-14-15) में नर्मदा एवं कावेरी (एक छोटी नदी, दक्षिण वाली बड़ी नदी नहीं) के संगम पर अग्नि या उपवास से आत्महत्या करने पर इसी प्रकार के फल की घोषणा की है.

हिंदू धर्मग्रंथों में स्त्रियों और शूद्रों को पढ़ाई से वंचित रखने का आदेश है–

स्त्रीशूद्रो नाधीयातामिति श्रुतेः.

(मीमांसा न्याय प्रकाश की टीका से उद्धृत)

अर्थात स्त्री और शूद्र न पढ़ें–ऐसा वेद का वचन है. इसी तरह के वचनों के परिणाम स्वरूप अभी कल तक लड़कियों को पढ़ाया नहीं जाता था. यह वचन भारतीय संविधान के साक्षात विपरीत है.

उर्दू भाषा संविधान में मान्यता प्राप्त भाषा है (देखें, आठवीं अनुसूची) इसे पढ़ने का सब को अधिकार है. इसे सीखने व पढ़ने में कोई दोष नहीं, लेकिन हिंदू धर्मग्रंथों का कथन है–

न वदेद् यावनीभाषां प्राणै: कण्ठगतैरपि.

(भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग पर्व 3, खंड 3, अ. 28, 53)

अर्थात प्राणों के लाले पड़ने पर भी यावनी भाषा न पढ़ें.

हिंदू धर्मशास्त्रों में विभिन्न वर्णसंकर जातियों (अंतरजातीय विवाहों की संतानों) को सार्वजनिक स्थानों के उपयोग से वंचित रखने के प्रत्यक्षअप्रत्यक्ष आदेश हैं. उदाहरणार्थ, चांडाल और रजस्वला (मासिक धर्म के दिनों में नारी) को देवमूर्तियों के चरण छूने के अयोग्य करार दिया गया है–

चौरचाण्डालपतितश्वोदक्या स्पर्शने तथा.
शवाद्युपहते चैव प्रतिष्ठां पुनराचरेत्..

(सिद्धांतशेखर)

अर्थात चोर, चांडाल (शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता की संतान) पतित, रजस्वला स्त्री–इन का स्पर्श होने पर और मंदिर में किसी मनुष्य के मर जाने पर देवमूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा फिर से करें, क्योंकि इन के स्पर्श से वे भ्रष्ट हो जाती हैं.

चाण्डालेरन्त्यजैश्चैव तथान्यप्रतिलोमजे:.
म्लेच्छैश्च नीचपतितैर्गुरुनिन्दाद्विषितै:..

इत्येवमादिभि: स्पृष्टे देवागारे विशेषत:.
स्पृष्टे प्रवेशने बाधा पूजनेऽप्यथदर्शने..

(भृगुसंहिता)

अर्थात चांडालों, सात अंत्यज जातियों, अंतरजातीय विवाहों की संतानों, म्लेच्छों, नीचों और पतितों के लिए मंदिर को छूने, उस में प्रविष्ट होने, उस में पूजा करने, यहां तक कि उसे देखने का निषेध है.

कारिकावृत्ति, प्रायश्चित्त कांड में रजस्वला स्त्री और चांडाल का न सिर्फ मंदिर की चहारदीवारी में प्रवेश निषिद्ध किया गया है, बल्कि उन्हें ग्राम मेले में भी न जाने देने का आदेश है. उन्हें रोकने के लिए जनता को तैयार करने के उद्‌देश्य से कई आपत्तियों के टूट पड़ने की बात कही गई है, जैसे–देवता की शक्ति क्षीण हो जाएगी, राजा की मृत्यु हो जाएगी, फसल तबाह होगी और ग्राम का नाश होगा, यदि चांडाल आदि मंदिर और ग्रामोत्सव में जाएंगे.

रुद्रस्य वाथ विष्णोर्वा प्राकाराभ्यन्तरे यदि. रजस्वलावधूश्चैव चाण्डालश्च समागत:.. ततो ग्रामोत्सवे हस्तशताभ्यन्तरतो यदि. तदेवस्य बलाहानि: राज्ञो मरणमेव च.. तद्ग्रामस्य क्षय: प्रोक्त: सस्यानां नाशनम् ध्रुवम्.

इसी प्रकार, कुछ जातियों को सार्वजनिक कुएं से पानी लेने से रोकने के लिए अप्रत्यक्ष तौर पर निषेध करते हुए धर्मशास्त्र का कथन है—

चाण्डालभांडसंस्पृष्टं पीत्वा कूपगतं जलम्.
गौमूत्रयावकाहारस्त्रिरात्राच्छुद्धिमाप्नुयात्..

(पराशर स्मृति 6-25)

अर्थात चांडाल (शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता की संतान) के बरतन का जिस कुएं से स्पर्श हो जाए, उस कुएं का जल यदि कोई पी ले तो वह तीन दिनरात गोमूत्र पी कर और उस में भीगे हुए जौ खा कर शुद्ध होता है.

शूद्र को सौंपे गए काम

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्.
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया..

(मनु. 1-91)

अर्थात ब्रह्मा ने इन (ब्राह्मण आदि तीनों) वर्णों का अनिंदक रहते हुए सेवा करना ही शूद्रों के लिए प्रधान कर्म बताया.

समस्त संपत्ति का स्वामी ब्राह्मण

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्.
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति..

(मनु. 1-100)

अर्थात पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह सब कुछ ब्राह्मण का है अर्थात ब्राह्मण उसे अपने धन के समान मानता है, ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न तथा कुलीन होने के कारण वह सब धन (ग्रहण करने) का अधिकारी होता है.

यज्ञिय और म्लेच्छ देश

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः.
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः..

(मनु. 2-23)

अर्थात जहां पर काला मृग स्वभाव से ही (कहीं अन्यत्र से ला कर रखा या छोड़ा गया नहीं) विचरण करता है 'यज्ञिय' (यज्ञ के योग्य) देश है, इस के अतिरिक्त सर्व 'म्लेच्छ देश' है.

जाति के नाम रखने के अलग ढंगों का आदेश

मांगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्.

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्..

(मनु. 2-31)

अर्थात ब्राह्मण का मंगलसूचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का बलसूचक शब्द से युक्त, वैश्य का धनवाचक शब्द से युक्त और शूद्र का निंदित शब्द से युक्त नामकरण करना चाहिए.

भिक्षावृत्ति का आदेश

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्.
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि..

(मनु. 2-48)

अर्थात (ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियों को) ईप्सित (श्लोक 45 में वर्णित विकल्प में से जो सुलभ या रुचिकर हो वह) दंडधारण कर सूर्य का उपस्थान तथा अग्नि की प्रदक्षिणा कर विधिपूर्वक भिक्षा मांगनी (भिक्षा याचना करनी) चाहिए.

भिक्षा मांगने की विधियों का उपदेश

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः.
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्..

(मनु. 2-49)

अर्थात उपनीत (यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त) ब्राह्मण को 'भवत्' शब्द का वाक्य के पहले उच्चारण कर (यथा– भवति भिक्षां देहि **), क्षत्रिय, ब्रह्मचारी को 'भवत्' शब्द का वाक्य के मध्य में उच्चारण कर (यथा–** भिक्षां भवति देहि **) और वैश्य ब्रह्मचारी को 'भवत्' शब्द का वाक्य के अंत में उच्चारण कर (यथा–** भिक्षां देहि भवति **) भिक्षा मांगनी चाहिए.**

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः.
त्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः..

(मनु. 2-52)

अर्थात आयु के लिए पूर्व की ओर, यश के लिए दक्षिण की ओर, धन के लिए पश्चिम की ओर, और सत्य के लिए उत्तर की ओर मुख कर भोजन करना चाहिए.

सौ वर्षीय क्षत्रिय की अपेक्षा दस वर्षीय ब्राह्मण की पूज्यता

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्..
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता..

(मनु. 2-135)

अर्थात दस वर्ष के ब्राह्मण और सौ वर्ष के क्षत्रिय को (परस्पर में) पितापुत्र

समझना चाहिए, उन में ब्राह्मण क्षत्रिय का पिता (पिता के समान पूज्य) होता है.

जो भीख न मांगे सजा पाए

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्.
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्..

(मनु. 2-187)

अर्थात निरोग रहता हुआ भी ब्रह्मचारी यदि बिना भिक्षा मांगे तथा बिना हवन किए सात दिन तक रहे तो 'अवकीर्ण' व्रत (11-118) करे, सजा के तौर पर.

भिक्षा याचना के बिना भोजन निषेध

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती.
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरूपवाससमा स्मृता..

(मनु. 2-188)

अर्थात ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षावृत्ति करे, किसी एक के अन्न का भोजन न करे. भिक्षान्न करने से ब्रह्मचारी की वृत्ति उपवास के समान कही गई है.

भाईहीन लड़की से विवाह करने की मनाही

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता.
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशंकया..

(मनु. 3-11)

अर्थात जिस कन्या का भाई न हो और जिस कन्या के पिता का ज्ञान न हो, उस कन्या के साथ पुत्रिका धर्म की शंका से विद्वान पुरुष विवाह न करे.

कुल को नीच बनाने वाले कर्म

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः.
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया..

(मनु. 3-64)

अर्थात चित्रकारी आदि शिल्प कला से, धन का (ब्याज आदि पर) व्यवहार करने से, केवल शूद्र (शूद्रोत्पन्न स्त्री) की संतान से, गो के (घोड़ा, रथ, हाथी आदि के भी) खरीदनेबेचने का व्यापार करने से, खेती से, राजा की नौकरी से कुल की हानि होती है.

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्.

कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रत:..

(मनु. 3-65)

अर्थात यज्ञ करने के अनधिकारियों (पतित, शूद्रादि) को यज्ञ कराने से, श्रौत स्मार्त कर्मों में नास्तिक्य (वेदस्मृति प्रतिपादित यज्ञादि कर्मों में विश्वास नहीं करने) से और वेद मंत्र हीन होने से अच्छे कुल भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं.

पंचसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर:.
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्..

(मनु. 3-68)

अर्थात गृहस्थ के लिए चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, मूसल और जल का घड़ा ये पांच पाप के स्थान हैं. इन्हें व्यवहार में लाता हुआ गृहस्थ पाप का भागी होता है.

स्त्री के साथ भोजनादि निषेध

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्.
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्..

(मनु. 4-43)

अर्थात स्त्री के साथ (एक पात्र में) भोजन न करें और भोजन करती हुई, छींकती हुई, जम्हाई लेती हुई तथा सुखपूर्वक बैठी हुई स्त्री को न देखें.

लहसुन आदि के भक्षण का निषेध

लशुनं गृंजनं चैव पलाण्डुं कवकानि च.
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्य प्रभवाणि च..

(मनु. 5-5)

अर्थात लहसुन, शलगम (या लाल मूली, कोई गृंजन का गाजर भी अर्थ करते हैं) प्याज, छत्राक (भूकंद विशेष) और अपवित्र स्थान (श्मशानादि) में उत्पन्न शाक आदि द्विजातियों के अभक्ष्य हैं. इन्हें नहीं खाना चाहिए.

यज्ञार्थ विहित पशुपक्षी का वध

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्या: प्रशस्ता मृगपक्षिण:.
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा..

(मनु. 5-22)

अर्थात द्विज यज्ञ के लिए तो अवश्य रक्षणीय मातापितादि की रक्षा के लिए धर्मशास्त्र विहित पशुपक्षियों का वध करे, ऐसा अगस्त्य ऋषि ने पहले किया था.

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्.
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च..

(मनु. 5-23)

अर्थात क्योंकि पहले भी मुनियों तथा ब्राह्मणक्षत्रियों के यज्ञों में (शास्त्रानुसार) भक्ष्य पशुपक्षियों का पुरोडाश (हविष्य हव्य) बना था, अतः धर्मशास्त्र विहित पशुपक्षियों का वध यज्ञ के लिए करना चाहिए.

मंत्रों द्वारा पवित्र किए मांस को खाने का आदेश

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया.
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये..

(मनु. 5-27)

अर्थात मंत्र द्वारा 'प्रोक्षण' संस्कार से युक्त यज्ञ में हवन किया गया मृगादि पशु का मांस, ब्राह्मणों की इच्छा से हो तब शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मधुपर्क तथा श्राद्ध में नियुक्त होने पर और प्राण संकट होने पर मांस को अवश्य खाना चाहिए.

देवताओं को अर्पित मांस खाने में कोई दोष नहीं

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा.
देवान्पितृंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति..

(मनु. 5-32)

अर्थात खरीद कर, स्वयं मार कर या किसी के द्वारा दिए हुए मांस को देवता तथा पितरों के लिए समर्पण कर के खाने वाला दोषी नहीं होता है.

श्राद्ध तथा मधुपर्क में नियुक्त हो कर मांस भक्षण आवश्यक

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः.
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्..

(मनु. 5-35)

अर्थात शास्त्रानुसार (श्राद्ध तथा मधुपर्क में) नियुक्त जो मनुष्य मांस को नहीं खाता है, वह मर कर इक्कीस जन्म तक पशु होता है.

यज्ञों में पशु हत्या में कोई दोष नहीं

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा.
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः...

(मनु. 5-39)

अर्थात ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए पशुओं को स्वयं बनाया है और यज्ञ संपूर्ण संसार

की उन्नति के लिए हैं, इस कारण यज्ञ में पशु का वध (वधजन्य दोष न होने से) वध नहीं है.

यज्ञार्थ मारे गए पशु आदि की जन्मांतर में उन्नति होती है

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यंचः पक्षिणस्तथा.
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः..

(मनु. 5-40)

अर्थात यज्ञ के लिए नाश (मृत्यु) को प्राप्त औषधियां (ब्रीहि आदि), पशु (छाग आदि), वृक्ष (यज्ञ स्तंभ के लिए खदिरादि), तिर्यक (कच्छप आदि) और पक्षी (कपिंजल आदि) फिर (जन्मांतर में) उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं.

इन अवसरों पर पशु वध करें

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि.
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः..

(मनु. 5-41)

अर्थात मधुपर्क, यज्ञ (ज्योतिष्टोम आदि) पितृकार्य (श्राद्ध) तथा देवकार्य में ही पशु का वध करना चाहिए, ऐसा मनु ने कहा है.

वैदिक हिंसा अहिंसा ही है

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे.
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ..

(मनु. 5-44)

अर्थात इस चराचर जगत में जो हिंसा वेद सम्मत है, उसे हिंसा नहीं समझें, क्योंकि वेद से ही धर्म निकला है.

शिल्पी आदि से बेगार करवानी चाहिए

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः.
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः.

(मनु. 7-138)

अर्थात कारीगर, बढ़ई, लोहार आदि, बोझ आदि ढोने वाले (मजदूर आदि) से राजा प्रति महीने में एक दिन बेगार करवाए.

गवाहों को सच बोलने पर लालच

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्.
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषां ब्रह्मपूजिता..

(मनु. 8-81)

अर्थात गवाही में सत्य कहने वाला गवाह मरने पर श्रेष्ठ लोकों (स्वर्गादि) को पाता है और इस लोक में श्रेष्ठ यश (नामवरी) पाता है, क्योंकि यह सत्य भाषण ब्रह्मा से पूजित है.

नीची जाति से सूद अधिक लो

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं च शतं समम्.
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः..

(मनु. 8-142)

अर्थात वर्णों के अनुसार दो, तीन, चार और पांच प्रतिशत मासिक सूद ले अर्थात ब्राह्मण से दो रुपए सैकड़ा सूद लें.

ब्राह्मण को कड़वा बोलने वाले शूद्र को मृत्यु दंड का आदेश

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति.
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति..

(मनु. 8-267)

अर्थात ब्राह्मण से ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन कहने वाला क्षत्रिय सौ पण, वैश्य डेढ़ सौ या दो सौ पण और शूद्र मृत्युदंड से दंडनीय होते हैं.

शूद्र को दास बनाने का आदेश

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा.
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा..

(मनु. 8-413)

अर्थात खरीदे हुए न खरीदे हुए शूद्र को दास बनाए, क्योंकि ब्रह्मा ने ब्राह्मणों की दासता के लिए ही शूद्रों की सृष्टि की है.

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते.
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति..

(मनु. 8-414)

अर्थात स्वामी के द्वारा छोड़ा गया भी शूद्र दासत्व से छुटकारा नहीं पाता है, क्योंकि वह (दासत्व) उस का कर्म है, (अतएव) उस (दासत्व कर्म) से उस को कौन मुक्त कर सकता है? अर्थात कोई भी नहीं.

भार्या, दासादि के अपने धन का अभाव

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः.

यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्..

(मनु. 8-416)

अर्थात स्त्री, पुत्र तथा दास इन तीनों को (मनु आदि महर्षियों) ने निर्धन ही कहा है, ये जो कुछ उपार्जन करते हैं, वह उस का होता है जिस के वे (भार्या, पुत्र या दास) हैं.

ब्राह्मणों को क्रुद्ध करने का निषेध

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत्.
तं ह्येनं कुपिता हन्यु: सद्य: सबलवाहनम्..

(मनु. 9-313)

(कोषक्षयादि रूप) महाविपत्ति में फंसा हुआ भी राजा ब्राह्मणों को क्रुद्ध न करे, क्योंकि क्रुद्ध ब्राह्मण सेना और वाहन के सहित इस राजा को (शाप तथा अभिचार, मारण, मोहनादि कर्म से) तत्काल नष्ट कर देते हैं.

ब्राह्मण प्रशंसा

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिता:.
देवान्कुर्युरदेवांश्च क: क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात्..

(मनु. 9-315)

अर्थात जो ब्राह्मण स्वर्ग आदि दूसरे लोकों तथा लोकपालों की रचना कर सकते हैं तथा क्रोधित करने पर शाप आदि से देवों को भी अदेव (मनुष्य आदि) कर सकते हैं, उन ब्राह्मणों को पीड़ित करता हुआ कौन मनुष्य उन्नति को पा सकता है?

शूद्र का धर्म है सेवा

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्.
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयस: पर:..

(मनु. 9-334)

अर्थात वेदज्ञाता ब्राह्मणों तथा यशस्वी सद्गृहस्थों की सेवा करना ही शूद्र का कल्याणकारक उत्तम धर्म है.

अंतरजातीय विवाहों की संतान का निवास स्थान

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च.
वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्त: स्वकर्मभि:..

(मनु. 10-50)

अर्थात (इन वर्णसंकरों जो ज्यादातर अनुसूचित जातियां हैं) इन को चैत्यद्रुम

(ग्राम के पास का प्रसिद्ध वृक्ष), श्मशान, पहाड़ और उपवनों में अपनीअपनी जीविका (10-47-49) के कर्म करते हुए निवास करना चाहिए.

चांडाल तथा श्वपाक के विषय में आदेश

चाण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः.
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्..

(मनु. 10-51)

अर्थात चांडाल तथा (10-12) श्वपच गांव के बाहर निवास करें और वे पात्र अर्थात टूटेफूटे बरतन बरतें. उन का धन कुत्ते तथा गधे हों (बैल, गाय, घोड़ा आदि नहीं).

वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्.
कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः..

(मनु. 10-52)

अर्थात कफन इन का वस्त्र हो, टूटेफूटे बरतनों में ये भोजन करें, इन के आभूषण लोहे के बने हों और ये सर्वदा भ्रमण करते रहें. एक स्थान पर बहुत दिनों तक निवास न करें.

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन्.
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह..

(मनु. 10-53)

अर्थात धर्माचरण करने वाला मनुष्य उन (चांडाल तथा श्वपाक आदि (10-12, 19) के साथ बातचीत न करें, उन्हें न देखें और उन का लेनदेन तथा विवाह आदि अपनी जाति वालों के साथ ही हो.

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने.
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च..

(मनु. 10-54)

अर्थात इन (चांडाल और श्वपाक आदि 10-30, 10-12, 19) का भोजन पराधीन (दूसरों के भरोसे) हो, (नौकरों के द्वारा) टूटेफूटे बरतनों में इन के लिए अन्न दिलवा दें, रात के समय गावों या नगरों में ये न घूमें.

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः.
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः..

(मनु. 10-55)

अर्थात राजाज्ञा के चिह्नविशेष धारण किए हुए ये (चांडाल तथा श्वपाक 10-12, 19) काम के लिए दिन में घूमें और बंधुबांधवों से रहित (लावारिस)

मुरदे को गांव से बाहर (श्मशानों में) ले जाएं, यह (शास्त्रोक्त) मर्यादा है.

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया.
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च..

(मनु. 10-56)

अर्थात (ये) वध्य (प्राणदंड की आज्ञा पाए हुए) मनुष्यों को शास्त्रानुसार राजाज्ञा से मारें अर्थात जल्लाद का काम करें और उन के कपड़े, शय्या तथा आभूषणादि को ग्रहण करें.

ब्राह्मण की सेवा शूद्र के लिए श्रेष्ठ काम

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः.
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता..

(मनु. 10-122)

अर्थात वह (शूद्र) स्वर्ग तथा जीविका दोनों के लिए ब्राह्मण की सेवा करे 'यह ब्राह्मणाश्रित है' इतने से ही शूद्र कृतकृत्य हो जाता है.

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च.
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः..

(मनु. 10-125)

अर्थात सेवक शूद्र के लिए जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, अन्न का पुआल और पुरानी खाट, बरतन आदि ब्राह्मण दे.

यज्ञ पूरा करने के लिए लोगों को लूट लो

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनांगेन यज्वनः.
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि..

यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः.
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये..

(मनु. 11-11-12)

अर्थात यज्ञ करते हुए क्षत्रिय का, विशेषकर ब्राह्मण का यज्ञ यदि एक अंग से (धनाभाव के कारण) पूरा नहीं हो रहा हो तो राजा के धर्मात्मा रहने पर यह ब्राह्मण या क्षत्रिय यज्ञकर्ता बहुत पशु वाले, पाकयज्ञादि नहीं करने वाले तथा सोमयज्ञ से भी हीन जो वैश्य हो, उस के परिवार से बाकी यज्ञ के पूर्ण होने के लिए (याचना से नहीं देने पर जबरदस्ती या चोरी से भी) धन लाए. (ऐसे करने वाले क्षत्रिय या विशेष कर ब्राह्मण यज्ञकर्ता को धर्मात्मा राजा उक्त अपराध में दंडित न करे.)

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः.

न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रह:..

(मनु.. 11-13)

अर्थात यज्ञ दो या तीन अंगों से धनाभाव के कारण पूरा नहीं हो रहा हो तो उस की पूर्णता के लिए वैश्य के यहां से धन न मिलने पर जबरदस्ती या चोरी से धनवान शूद्र के यहां से धन लाए, क्योंकि शूद्र का यज्ञ से कोई संबंध नहीं होता है.

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्त्रगु:.
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन्..

(मनु. 11-14)

अर्थात जो ब्राह्मण या क्षत्रिय सौ यज्ञ करने योग्य धन होने पर भी अग्निहोत्र नहीं करता तथा सहस्त्र गौ या उतना धन होने पर भी सोम यज्ञ नहीं करता हो, ऐसे ब्राह्मण या क्षत्रिय के परिवार से (धनाभाव के कारण) यज्ञ दो या तीन अंगों से पूर्ण नहीं हो तो यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण (जबरदस्ती या चोरी से) धन लाए.

शूद्रवध का प्रायश्चित्त (शूद्र के कत्ल से छूटने का नुसखा)

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत्.
वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गा: सिता:..

(मनु. 11-130)

अर्थात शूद्र का वध करने वाला ब्राह्मण छह मास तक इसी (11-128) व्रत को कर तथा एक बैल के साथ ग्यारह गायों को ब्राह्मण के लिए दे.

सांप मारना पाप

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तम:.

(मनु. 11-133)

अर्थात द्विज श्रेष्ठ सांप को मार कर काले लोहे का बना तीक्ष्णाग्र डंडा ब्राह्मण दान करें.

बाघ आदि को मारना पाप

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्.

(मनु. 11-137)

अर्थात क्रव्याद (कच्चा मांस खाने वाले बाघ आदि) पशु का वध कर दुधारू गाय दान करें.

सर्पादि वध के पाप से छूटने का दूसरा तरीका

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन्.
एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये..

(मनु. 11-139)

अर्थात सांप आदि के वध का निवारण पूर्वोक्त विधि से करने में असमर्थ द्विज एकएक पाप की निवृत्ति के लिए एकएक कृच्छ्र (प्राजापत्य) (11-212) व्रत करें.

बिल्ली आदि का जूठा खाने पर क्या करें?

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च.
केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम्..

(मनु. 11-159)

अर्थात मार्जार, कौवा, चूहा, कुत्ता, नेवला–इन का जूठा तथा बाल और कीड़े आदि से दूषित अन्न आदि को खा कर उष्ण पानी पीएं.

दलितों के कुएं का पानी पी कर गोमूत्र पीएं

अन्त्यजैः स्वीकृते तीर्थे तडागेषु नदीषु च.
शुद्ध्यते पंचगव्येन पीत्वा तोयमकामतः..

(संवर्त स्मृति, श्लोक 183)

अर्थात तीर्थ, तालाब, नदी के जिस भाग में अंत्यज (दलित) लोग अपना कार्य करते हैं, उस भाग का जल यदि कोई द्विजाति धोखे से पी ले तो पंचगव्य (गाय का गोबर, मूत्र आदि) भक्षण करने से पवित्र होता है.

चाण्डालखातवापीषु पीत्वा सलिलमग्रजः.
अज्ञानाच्चैकनक्तेन स्वहोरात्रेण बुध शुद्ध्यति..

चाण्डालभाण्डसंस्पृष्टं पीत्वा कूपगतं जलम्.
गौमूत्रयाषकाहारास्त्रिरात्राच्छुद्धिमाप्नुयात्..

(पराशर स्मति, अ. 6-24-25)

अर्थात चांडाल के बनवाए हुए बावड़ी आदि में यदि अज्ञान से कोई ब्राह्मण आदि जल पी ले, तो चौबीस घंटे उपवास कर के शुद्ध होता है. (24)

चांडाल के बर्तन का जिस कुएं में स्पर्श होता है, उस कुएं का जल यदि कोई पी ले तो तीन दिनरात गोमूत्र पान और गोमूत्र में भीगे हुए यवों का भक्षण कर के शुद्ध होता है. (25)

संस्पृष्टं यस्तु पक्वान्नमन्त्यजैवाप्युदक्यथा.

अज्ञानाद् ब्राह्मणोऽश्नीयात्प्रजापत्यार्द्धमाचरेत्..

(अत्रि स्मृति-172)

जो पक्वान्न अंत्यज जाति या रजस्वला स्त्री ने छू लिया है, उस को यदि अज्ञान से ब्राह्मण खा ले तो आधा प्राजापत्य व्रत करे.

भाण्डस्थमन्त्याजानान्तु जलं दधि पय: पिबेद्.
ब्राह्मण क्षत्रियों वैश्य: शूद्रश्चैव प्रमादत:..
ब्रह्मकूर्चोपवासेन द्विजातीनान्तु निष्कृति:.
शूद्रस्य चौपवासेन तथा दानेन शक्तित:..

(पराशर स्मृति 6-29-30)

अर्थात अन्य अंत्यजों (शूद्रों की सात जातियां) का दधि, दूध प्रमाद से कोई ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पी ले तो ब्रह्मकूर्च उपवास करने से द्विजातियों का दोष दूर होता है और शूद्र उपवास एवं शक्ति अनुसार दान देने से शुद्ध होता है.

चाण्डालघटसंस्थन्तु य: तोयं पिबति द्विज:.
तत्क्षणातिक्षयते यस्तु प्राजापत्यं समाचरेत्..
यदि न शिक्षते तोयं शरीरे यस्थ जीर्यति.
प्राजापत्यं न दातव्यं कृच्छ्रंसान्तपनं चरेत..
चरेत्सांतपनं विप्र: प्राजापत्यं तु क्षत्रिय:.
तदर्घन्तु परेद्वैश्य: पादं शूद्रस्य वापयेत्..

(पराशर स्मृति, 6-23-25)

अर्थात चांडाल के बरतन में धरा हुआ जल यदि कोई द्विजाति पी ले और ज्ञान होने पर यदि उसी समय वमन कर दे तो प्राजापत्य व्रत करे और यदि वमन न करे तथा वह जल शरीर में हजम हो जाए तो प्राजापत्य व्रत न कर के कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करे. ब्राह्मण सांतपन, क्षत्रिय प्राजापत्य, वैश्य आधा प्राजापत्य तथा शूद्र चौथाई प्राजापत्य कर के शुद्ध होता है.

चाण्डालान्नं यदा भुक्तं चातुर्वणर्यस्य निष्कृति:.
चांद्रायण चरेद्विज: क्षत्र: सान्तपनं चरेत्..
षड्रात्रमाचरेद्वैश्य: पंचगव्यं च.
त्रिरात्रमावरेच्छूद्रो दानं विशुद्धयति..

(अत्रि स्मृति-173-174)

अर्थात चातुर्वर्ण्य में से यदि कोई चांडाल का अन्न खा ले ते उस का प्रायश्चित्त इस प्रकार है—ब्राह्मण चांद्रायण व्रत करे, क्षत्रिय सांतपन व्रत, वैश्य छह रात्रि का उपवास कर के पंचगव्य (गौ का गोबर, मूत्र आदि पांच पदार्थ) पान करे एवं शूद्र तीन रात का उपवास कर व दान दे कर शुद्ध होता है.

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः.
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते..

(मनु. 9-14)

अर्थात स्त्रियां पुरुष के रूप को नहीं देखतीं और न ही यह देखती हैं कि इस पुरुष की आयु क्या है, चाहे मनुष्य रूपवान हो या कुरूप हो, वे केवल पुंसत्व देखती है. ऐसे हर मनुष्य के साथ संबंध स्थापित कर लेती हैं.

चौरचाण्डालपतितश्वोदवाया स्पर्शने तथा.
शवाद्युपहते चैव प्रतिष्ठां पुनराचरेत्..

(सिद्धांतशेखर)

अर्थात चोर, चांडाल, पतित, रजस्वला स्त्री, इन का स्पर्श होने पर और मंदिर में किसी मनुष्य के मर जाने पर देव मूर्तियों की पुनः प्रतिष्ठा हो.

प्रासाददेवहर्म्याणां चाण्डालपतितादिषु.
अन्तः प्रविष्टेषु तथा शुद्धि स्यात्केन कर्मणा.
गौमिः संक्रमणं कृत्वा गोमूत्रेणव लेपयेत..

(वृद्धहारीत)

अर्थात प्रासाद (मंदिर), देव हर्म्य (देव स्थान) इन में यदि चांडाल और पतित आदि का बाहर के आंगन में भी प्रवेश हो जाए तो किस कर्म से शुद्धि होगी? गौओं का संक्रमण (बांधना या फिरना) और इस के बाद गोमूत्र का लेपन करने से अंतः स्थान की शुद्धि होती है.

चाण्डालैरन्त्यजश्चैव तथान्यप्रतिलोमजैः.
म्लेच्छैश्च नीचपतितैर्गुरु निन्दादिदूषितै :..
इत्येवमादिभिः स्पृष्टे देवागारे विशेषतः.
स्पृष्टं प्रवेशने वाधा पूजनेप्यथदर्शने..

(भृगुसंहिता)

अर्थात चांडाल, अंत्यज एवं प्रतिलोम, म्लेच्छ, नीच, पतित और गुरु की निंदा करने वाला, इन का यदि देव मंदिर में स्पर्श हो तो शास्त्र इस प्रवेश का निषेध करता है. स्पर्श, पूजन और दर्शन ऊपर लिखे मनुष्यों को इन चार क्रियाओं का निषेध है.

रुद्रस्य वाथ विष्णोर्वा प्राकाराम्यन्तरे यदि.
रजस्वलावधूश्चैव चाण्डालश्च समागतः..
तूतो ग्रामोत्सवे हस्तशताम्यन्तरतां यदि.
तद् देवस्य कलाहानिः राज्ञो मरणमेव च.
तद्ग्रामस्य क्षयः प्रोक्तः सस्यांनां नाशनं ध्रुवम्..

(कारिकावृत्ति, प्रायश्चित्त कांड)

अर्थात शंकर या विष्णु के मंदिर के प्राकार में यदि रजस्वला स्त्री अथवा चांडाल जाए तो चारों तरफ से सौसौ हाथ मार्जन करे. ग्रामोत्सव में भी चांडाल और रजस्वला स्त्री के प्रवेश का निषेध है, यदि यहां पर यह प्रायश्चित्त न किया गया तो उस देवमूर्ति की शक्ति की हानि होगी. राजा का मरना, ग्राम का क्षय और अन्नतृण का नाश होगा.

चाण्डालमद्यसंस्पर्शदूषिता वह्निनाथवा.
अपुण्यजनसंस्पृष्टा विप्रक्षतजदूषिता.
सा पुनः संस्कर्तव्येति.

(पद्यशेषः, हयशीर्ष, पंचरात्र)

अर्थात चांडाल या मद्य इन के स्पर्श होने अथवा अग्नि द्वारा मूर्ति के कुछ भाग पर विकृति हो, नीचयोनि के स्पर्श और ब्राह्मण का रुधिर गिरने पर मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा होनी चाहिए.

स्पृष्टाभागधनांगचेत्स्पृष्टं वा कौतुकं यदि.
क्रियासमभिहारेण प्रायश्चित्तमिहोच्यते..

शोधयेन्मन्दिरं पूर्व गोमयालेपनादिभिः.
पुण्याहं वाचयित्वाथ ब्राह्मणांस्तत्र भोजयेत्..

स्वाध्यायं परिकुर्वीरन्ब्राह्मणाः वेदपारगाः.
इतिहासपुराणानि पठेयुश्च दिवानिशम्..

कपिलाश्च प्रदेशेषु तत्र तत्राभिवासयेत.
एवं मासादिकालेषु दोषगौरवलाघवम्..

अवेक्ष्य शोधिते धाम्नि ब्राह्मणांस्तोषयेद्धतैः.
प्रतिमानां यथायोगमुद्धारो वा नवीकृते..

कुर्यात्ततो यथापूर्नं निमित्ते वा नवीकृते.
प्रतिष्ठाप्य यथाशास्त्रं स्नापयेत्कलशैरपि..

सहस्रेण पुरावृत्तदोषाणमघनुत्तये..
अन्ते महोत्सवः कार्यो न चेद्राष्ट्रनृपक्षयः..

(श्री पांचरात्रे पद्मतंत्रे चर्यापादे अ. 18)

अर्थात चांडाल, श्वपच और इन के तुल्य जो पुल्कस आदि तथा प्रतिलोम अंत्यज जातियां हैं, इन में से यदि कोई जगमोहन या मंदिर के भीतर के भाग का स्पर्श कर ले तो उस का क्रिया सहित प्रायश्चित्त यहां बताया जाता है. पहले मंदिर को गोबर आदि से लीप कर शुद्ध करे, फिर पुण्याह वाचन करवाएं तत्पश्चात उस स्थान में ब्राह्मण को भोजन कराए, वेदपाठी ब्राह्मण फिर वहां वेद का स्वाध्याय (पाठ) करे और साथ ही साथ इतिहास, पुराण का भी अखंड पाठ कराए. उस

मंदिर के आसपास योग्य स्थान में गौओं का निवास हो. इस प्रकार दोष के न्यूनाधिक होने से दोचार मास आदि काल में ये सब क्रियाएं होती रहें. फिर इस मंदिर को इन नियमों से पवित्र होने पर पाठ करने वाले ब्राह्मणों को धन से संतुष्ट करे तथा योग्य स्थापित प्रतिमाओं का उद्धार करे या नवीन प्रतिमाएं मंगवाए जैसे पूर्वकाल में प्रतिष्ठा हुई थी. वैसे ही इन मूर्तियों की स्थापना करे और सहस्त्र घंटों में मूर्तियों को स्नान करवाए, जिस से दोषों की निवृत्ति हो. इतना काम करने पर फिर महोत्सव हो. जो ऐसा न किया जाए तो देश और राजा दोनों का क्षय होगा.

मात्रा स्वस्रा दुहित्र वा न विवक्तासनो भवेत्.
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति..

(मनु. 2-215)

अर्थात माता या बहिन अथवा अपनी कन्या–इन के साथ भी एकांत स्थान में न बैठें क्योंकि इंद्रियों का समूह बड़ा बलवान है, वह विद्वानों को भी नीचता की ओर खींच ले जाता है.

इन तथ्यों के प्रकाश में देखा जाए तो यह बात निस्संदेह स्पष्ट हो जाती है कि मेरे लेख– आत्मा और पुनर्जन्म, आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर में एक भी बात प्रमाणहीन नहीं है. इस में जो कुछ कहा गया है, वह केवल सचाई है और उस का उद्देश्य किसी की धार्मिक भावनाओं को जानबूझ कर ठेस पहुंचाना नहीं. अतः मैं ने कोई अपराध नहीं किया और उक्त लेख पर प्रथम दृष्टि में मुकदमा (Prima facie) नहीं बनता.

अतिरिक्त अपर मुख्य महानगर मजिस्ट्रेट
श्री सुभाष वासन, दिल्ली न्यायालय
राज्य बनाम विश्वनाथ तथा अन्य
प्रथम सूचना रिपोर्ट संख्या 1302/78 पहाड़गंज थाना
भारतीय दंड संहिता की धारा 295-ए के अंतर्गत

आदेश

1. विश्वनाथ (आरोपी संख्या-1) व सोमा सबलोक (आरोपी संख्या-2) का केंद्रीय जिले की अपराध शाखा द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 295-ए के अंतर्गत यह आरोप लगाते हुए चालान किया गया कि उन्होंने पाक्षिक पत्रिका 'सरिता' (अप्रैल/द्वितीय 1978) में हिंदू एवं धार्मिक विश्वासों का अपमान करने और हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने के उद्देश्य से एक लेख प्रकाशित किया.

2. इस मुकदमे के तथ्यों में किंचित्मात्र भी विवाद नहीं है. आरोपी संख्या-1 उपर्युक्त पत्रिका के संपादक एवं प्रकाशक हैं और आरोपी संख्या-2 ने स्वीकार किया है कि वह 'आत्मा और पुनर्जन्म' शीर्षक से प्रतिवादित लेख की लेखिका हैं, जो उपर्युक्त अंक में पृ. 67 सरिता (अप्रैल/द्वितीय/1978) पर प्रकाशित है.

3. मैं ने राज्य (दिल्ली) के काबिल अतिरिक्त सरकारी वकील (एपीपी) और बचाव पक्ष के काबिल वकील की बहस सुनी. बचाव पक्ष के वकील की दो दलीलें हैं. प्रथमतः दोनों आरोपियों पर आपराधिक दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 196 (1) के अंतर्गत नियमानुसार वैधानिक स्वीकृति के बिना मुकदमा चलाया गया है. इस संदर्भ में आरोपी संख्या-2 द्वारा लिखित मुख्य लेख 'आत्मा और पुनर्जन्म' पर जरा भी गौर नहीं किया गया है, जो सरिता (जुलाई/प्रथम/1977) में प्रकाशित हुआ था. प्रतिवादित लेख तो, जिस पर मुकदमा चलाया गया है, मुख्य लेख पर पाठकों द्वारा की गई आपत्तियों और आलोचनाओं का उत्तर मात्र है. यह भी खेदजनक है कि मुकदमा चलाने की अनुमति देने से पूर्व उपराज्यपाल ने भी इस बात पर गौर नहीं किया. इसलिए यह अभियोजन स्वीकृति कानूनन गलत है.

4. द्वितीयतः, बचाव पक्ष के काबिल वकील द्वारा यह भी तर्क दिया गया है कि सरसरी तौर पर प्रतिवादित लेख को पढ़ने पर बिलकुल भी यह नहीं प्रतीत होता है कि किसी भी आरोपी ने जानबूझ कर किसी भी नागरिक वर्ग की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाई है अथवा किसी भी रूप में हिंदू धर्म का अपमान किया है. सचाई तो यह है कि प्रतिवादित संपूर्ण लेख साहित्यिक पृष्ठभूमि के साहचर्य में तर्कवितर्कों पर आधारित है. अतः काबिल वकील के अनुसार, आरोपियों पर भारतीय दंड संहिता की धारा 195-ए के अंतर्गत कोई आरोप ही नहीं बनता.

5. यह उल्लेखनीय है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 295-ए के अनुसार जानबूझ कर या द्वेषपूर्ण भावना से ग्रस्त हो कर भारत के किसी भी नागरिक वर्ग की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने या अपमानित करने अथवा धर्म के अपमान की कोशिश करने के उद्देश्य से बोले या लिखे गए शब्द अपराध हैं. इस अपराध की स्थापना के लिए आवश्यक संघटक इस प्रकार हैं.

   (क) शब्द बोले, लिखे या स्पष्टतः प्रदर्शित हों.

   (ख) जानबूझ कर और द्वेष भावना से ग्रस्त हो कर किसी भी भारतीय नागरिक वर्ग की धार्मिक भावनाओं का अपमान.

   (ग) जानबूझ कर और द्वेषपूर्ण भावना से किसी धर्म या ऐसे वर्ग के धार्मिक विश्वासों का अपमान या अपमान करने का प्रयास करना.

6. यह अंश पढ़ने से स्पष्ट है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 295-ए के अंतर्गत इस अपराध में द्वेष एक मुख्य संघटक है. अतः आरोपी पक्ष के लिए इसे उपयुक्त प्रमाण सहित सिद्ध करना आवश्यक है. प्रस्तुत मुकदमे में इस बात पर कोई विवाद नहीं है कि प्रतिवादित लेख आरोपी संख्या-1 द्वारा संपादित एवं प्रकाशित है और आरोपी संख्या-2 द्वारा लिखा गया है. अतः आरोपी पक्ष को इस लेख द्वारा ही यह सिद्ध करना है कि इस लेख द्वारा संपादक व लेखक का उद्देश्य द्वेष या शत्रुतापूर्ण होने के साथसाथ हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाना है. इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 295-ए के अंतर्गत पूछताछ या जांचपरख का दायरा इसी प्रश्न तक सीमित रहना चाहिए कि क्या आरोपियों का द्वेषपूर्ण उद्देश्य हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाना था, जैसा कि आरोप लगाया गया है. प्रतिवादित लेख पढ़ने से यह स्पष्ट है कि यह सरिता (जुलाई/प्रथम/1977) में प्रकाशित मुख्य लेख पर पाठकों की विभिन्न आपत्तियों और आलोचनाओं के रूप में प्रकाशित किया गया था. इसी शीर्षक अर्थात 'आत्मा और पुनर्जन्म' शीर्षक से प्रकाशित मुख्य लेख पर कोई आरोप नहीं लगाया गया है.

प्रतिवादित लेख में, लेखक के इस विचार कि आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, एक पाठक ने आपत्ति उठाई थी. आरोपी संख्या-2 ने लेख में यह चर्चा की थी कि शरीर और आत्मा के बीच सीधा अंतर्संबंध है. इस पर एक पाठक का कहना है कि शरीर और आत्मा की क्रियाएं एकदूसरे से नितांत भिन्न होती हैं.

7. आरोपी संख्या-2 ने गीता के एक श्लोक (13-33) की चर्चा की है, जिस की व्याख्या में कहा गया है कि एक ही आत्मा समस्त जीवित शरीरों को प्रकाशित करती है (अर्थात एक ही आत्मा सभी जीवित शरीरों में रहती है) यह इस आधार पर गलत है कि सभी मनुष्यों की रुचियां, क्रियाएं और प्रवृत्तियां भिन्नभिन्न होती हैं. अतः सभी जीवात्माएं एक ही आत्मा से प्रकाशित या उत्पन्न नहीं हैं.

8. यह सर्वविदित है कि आत्मा अदृश्य है और समाज का एक वर्ग आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखता है, जब कि दूसरा वर्ग आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता. इस प्रकार हर व्यक्ति स्वतंत्र है कि वह आत्मा के अस्तित्व को माने या न माने. अतः मेरे विचार से आरोपी संख्या-2 द्वारा पाठकों की आपत्तियों के उत्तर में आत्मा के अस्तित्व पर तर्क देना किसी भी तरह से हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाना नहीं माना जा सकता. लेखक गीता (13-33) के विचारों से सहमत नहीं है. उस ने अपने लेख में आत्मा के अस्तित्व को नकारते हुए तर्क और चित्र दिए हैं, जिन्हें हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को जानबूझ कर या द्वेषपूर्ण भावना से ठेस पहुंचाने वाला नहीं माना जा सकता.

9. आरोपी संख्या-2 ने लेख के पृष्ठ 82 देखें- सरिता- (अप्रैल/द्वितीय/1978) इस पुस्तक का 24 वां पृष्ठ पर लिखा है कि हमें किसी वस्तु के अस्तित्व पर सिर्फ इसलिए विश्वास नहीं कर लेना चाहिए कि ऐसा वेदों और शास्त्रों में लिखा है. इस तरह की स्वीकृति शास्त्रों पर हमारी आत्मनिर्भरता प्रदर्शित करती है. आगे यह भी कहा गया है कि जब तक इस बात के ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होते कि शास्त्रों का प्रणयन स्वयं भगवान ने किया है, तब तक इन की सत्यता नहीं मानी जा सकती. शास्त्रों में तमाम ऊलजलूल बातें भरी पड़ी हैं, जिन्हें असभ्य लोग ही सही मान सकते हैं. अपने इस तर्क के समर्थन में लेखक ने हिंदुओं की एक पवित्र पुस्तक 'ऋग्वेद' से यम और यमी के संबंधों का उद्धरण दिया है, जहां यम भाई है और यमी बहिन. प्रेमाकुल बहिन यमी अपने भाई यम के पास जा कर दांपत्य सुख की प्राप्ति हेतु निवेदन करती है, किंतु यम उस के प्रणय निवेदन को अस्वीकार कर देता है. 'ऋग्वेद' मैं ने पढ़ा है. पं. रामगोविंद त्रिवेदी द्वारा संपादित, सन् 1954 में प्रकाशित इस के हिंदी संस्करण में पृष्ठ 1221 पर सूक्त संख्या 10 में इन तथ्यों का उल्लेख है, इस में यम और

यमी का विस्तृत वार्तालाप है, जिन्हें भाईबहिन के रूप में दर्शाया गया है. यमी यम से दांपत्य सुख प्राप्त करने के लिए प्रणय निवेदन करती है. उस के इस प्रस्ताव पर यम बारबार यह कह कर अपनी अनिच्छा एवं आपत्ति प्रकट करता है कि वह नैतिक जीवन के आदर्शों का संरक्षक है. इसलिए वह अपने इस कर्तव्य से च्युत नहीं हो सकता. इस प्रकार लेख में दिया गया वक्तव्य 'ऋग्वेद' में प्रस्तुत तथ्यों पर आधारित है इस से ऐसा बिलकुल नहीं प्रतीत होता है कि मुख्य लेख पर आपत्तियां करने वाले पाठकों को सत्य तथ्यों से अवगत कराते हुए जानबूझ कर या द्वेषपूर्ण भावना से हिंदुओं की भावनाओं को ठेस पहुंचाने का प्रयास किया गया है.

10. कुछ पाठकों ने आत्मा के अस्तित्व का दावा किया है और 'अथर्ववेद' (5-1-1-2) तथा 'ऋग्वेद' (1-64-20) के आधार पर पुनर्जन्म में विश्वास प्रदर्शित किया है. इस संदर्भ में लेखक (आरोपी संख्या-2) ने सही कहा है कि हमें किसी भी वस्तु के अस्तित्व को सिर्फ इसलिए स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए कि ऐसा वेदों और शास्त्रों में लिखा है, जब तक कि उस का कोई वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध न हो जाए, आज के वैज्ञानिक युग में प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत पर प्रश्न चिह्न लगाने की स्वतंत्रता है, क्योंकि यह वैज्ञानिक एवं सुधारवादी प्रगति की दिशा में एक कदम है, जैसा कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51 में भी उल्लिखित है. लेखिका ने इसी उद्देश्य से पाठकों को इस प्रतिवादित लेख द्वारा प्रबोधित करने का प्रयास किया है. फिर भी यह दुखद है कि उन पर हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने का आरोप लगाया गया तथा तीन वर्षों तक उन्हें मानसिक यंत्रणा झेलनी पड़ी. यह एक लेखक के उस मौलिक अधिकार पर रोक लगाने से कम नहीं है, जिस में उसे किसी भय या पक्षपात के बिना अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता प्राप्त है. यह प्रतिवादित लेख सचाई उजागर करने की दिशा में एक प्रयास है. इसे जानबूझ कर या विद्वेषपूर्ण उद्देश्य से हिंदू धर्म को अपमानित करना नहीं माना जा सकता. हिंदू धर्म और हिंदू विधि व्यवस्था में कहीं भी यह अपेक्षा नहीं की गई है कि सभी हिंदुओं को आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म के सिद्धांत पर विश्वास करना ही चाहिए. भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है, जहां प्रत्येक नागरिक को किसी भी धर्म विशेष में विश्वास रखने और किसी भी धार्मिक विषय पर अपने विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता है. आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत में ईसाई, मुसलिम, बौद्ध तथा कई अन्य धर्मावलंबी विश्वास नहीं करते, जब कि लेखिका ने स्वयं हिंदू होते हुए, हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाए बिना, अपने विचार प्रकट कर के कोई अपराध नहीं किया है. आत्मा के अनस्तित्व एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत पर अविश्वास के समर्थन में

लेखिका ने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किए हैं. लेखिका का यह तर्क सर्वथा उचित ही है कि सत्य किसी की बपौती नहीं है. सचाई पर हिंदुओं का ही एकाधिकार नहीं है. अतः हमें हिंदुओं के नाम पर इस का उपदेश नहीं देना चाहिए. सचाई पर जीसस का भी अधिकार नहीं है, अतः हमें जीसस के नाम पर इस का उपदेश नहीं देना चाहिए. सचाई पर बुद्ध का भी एकाधिकार नहीं है, अतः बुद्ध के नाम पर भी इस का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है. इसी प्रकार सचाई पर मुहम्मद और कृष्ण का भी एकाधिकार नहीं है. इस पर सभी का अधिकार है.

11. 'ऋग्वेद' के तथ्यों पर आधारित उत्तर लेखिका के विचारों की समालोचना का समर्थन है. एक बार पुनः लेखिका ने 'ऋग्वेद' के पृष्ठ 1303 का उल्लेख किया है, जहां पिता को पुत्री के साथ यौन संबंध स्थापित करने के लिए कृत संकल्प या उत्तेजित दिखाया गया है. पं. रामगोविंद त्रिवेदी द्वारा संपादित एवं 1954 में प्रकाशित 'ऋग्वेद' के हिंदी संस्करण में सूक्त 61, भाग V, VI और VII में ऐसा उल्लिखित है. आगे चल कर लेखिका ने प्रतिवादित लेख में दशरथ जातक के आधार पर राम और सीता के सगे भाईबहिन होने का उल्लेख किया है. जब कि वे वैवाहिक बंधन में बंधते हैं. लेखिका ने यह उदाहरण अपने इस विचार की पुष्टि के लिए दिया है कि वेदों और शास्त्रों में उल्लिखित अनुचित संबंध केवल असभ्य या अर्द्धसभ्य लोगों में ही स्वीकार्य हो सकते हैं. मैं ने 'दशरथ जातक' की कथा पढ़ी है. इस कथा में राम वाल्मीकि द्वारा प्रणीत 'रामायण' से सर्वथा भिन्न है. 'दशरथ जातक' में राम के पिता दशरथ को बनारस का राजा बताया गया है, जब कि 'रामायण' में राम के पिता दशरथ अयोध्या के राजा हैं. 'दशरथ जातक' में राम और लक्ष्मण अपनी सुरक्षा के लिए वन में जाते हैं, जब कि 'रामायण' में राम अपने पिता के वचन की मर्यादा का पालन करने के लिए वन जाते हैं. इस प्रकार लेखिका ने 'दशरथ जातक' की कथा का वर्णन किया है. इस में ऐसा कहीं नहीं प्रतीत होता कि जानबूझ कर छलपूर्वक अथवा द्वेषपूर्ण उद्देश्य से हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने का प्रयास किया गया है.

12. एक अन्य स्थान पर लेखिका ने स्वामी दयानंद के विचार को संदर्भित किया है कि वेदों में एक युवती को संतान सुख पाने के लिए 11 व्यक्तियों के पास जाने की आज्ञा दी गई है. इस वक्तव्य में कहीं भी मिथ्याभास नहीं है. यह वक्तव्य उन तथ्यों पर आधारित है, जिन का उल्लेख ग्रंथों में किया गया है, जैसे 'जातक कालीन भारतीय संस्कृति', 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका', 'हिंदी ऋग्वेद', 'श्रीसूक्तिसागर', 'भविष्य पुराण की आलोचना', 'उत्पत्ति और विकास', 'सत्यार्थप्रकाश' और 'पुराण दिग्दर्शन'.

13. इस प्रकार इस लेख में प्रयुक्त शब्द ऐसे नहीं हैं, जिन्हें कोई बुद्धिमान व्यक्ति अपमानजनक, उत्तेजक, द्वेषपूर्ण या जानबूझ कर भारत के किसी भी नागरिक वर्ग की भावनाओं को ठेस पहुंचाने वाला बता सके. लेखिका का मंतव्य मात्र अपने मुख्य लेख में अभिव्यक्त विचारों के समर्थन में पाठकों को उन तथ्यों से परिचित कराना प्रतीत होता है जो हिंदुओं के विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में उल्लिखित है. लेख में उद्‌धृत तथ्य विभिन्न पवित्र पुस्तकों की रचनात्मक आलोचना मात्र हैं और आलोचना का उद्‌देश्य युक्तियुक्त तथा ठोस तर्कवितर्क के आधार पर पाठकों के समक्ष सचाई उजागर करना है.

14. बचाव पक्ष के काबिल वकील द्वारा उठाया गया दूसरा मुद्‌दा कि अभियोग की स्वीकृति कानूनन गलत थी, वैधानिक रूप में सही नहीं जान पड़ती है, क्योंकि भारतीय दंड संहिता की धारा 295-ए के अंतर्गत अभियोग की स्वीकृति के लिए जुलाई/प्रथम/1977 अंक में प्रकाशित मुख्य लेख का उल्लेख करना जरूरी नहीं है.

15. उपर्युक्त चर्चा के परिप्रेक्ष्य में आरोप नितांत निराधार है, इसलिए दोनों आरोपियों को बरी किया जाता है, इन का जमानत पत्र रद्‌द किया जाता है और जमानत राशि लौटाई जाती है.

ह. सुभाष वासन
अतिरिक्त अपर मुख्य
महानगर मजिस्ट्रेट, दिल्ली

घोषित
2.12.1983

परिशिष्ट

कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष

क्या अस्पष्ट, संदिग्ध व गूढ़ विचारों को स्वस्थ सामाजिक जीवन का आधार बनाया जा सकता है?

हिंदू समाज का सामाजिक ढांचा जातिभेद पर आधारित है तो मानसिक व आध्यात्मिक ढांचा कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष के सिद्धातों पर. जातिभेद ने हिंदू समाज को जिस तरह विशृंखलित, जर्जरित और रुग्ण कर दिया है उसी तरह कर्म, पुनर्जन्म व मोक्ष के विचार ने मानसिक व आध्यात्मिक दृष्टि से इसे अबौद्धिक, असामाजिक तथा भाग्यवादी बना दिया है.

हमें इस विवाद में नहीं पड़ना है कि कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष के सिद्धांत सही हैं या नहीं. हजारों वर्षों तक हमारे देश में बड़ेबड़े ऋषिमुनियों ने इन रहस्यों के मूल में पहुंचने की चेष्टा की है. अपने अनुभवों व अटकलों से जो कुछ उन्होंने लिखा या प्रतिपादित किया है वह अभी भी इतना अस्पष्ट, संदिग्ध तथा गूढ़ है कि उसे किसी भी स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक दर्शन व धार्मिक विचार तंत्र का आधार नहीं बनाया जा सकता. और अगर बना दिया जाता है तो ऐसे समाज को सही मार्गदर्शन प्राप्त नहीं हो सकता.

ऐसा ही कुछ हमारे देश में भी हुआ है. वर्णव्यवस्था बना कर भी हम ने यही भूल की थी. कर्म के आधार पर समाज को कई वर्गों में बांटने तथा सब को ऊंचे व नीचे होने का एक विशिष्ट विकृत विचार देने का कार्य जो आर्यों ने किया उसे हम उन की बड़ी बुद्धिमानी मानते रहे. इस बीसवीं सदी में भी वर्णव्यवस्था के समर्थकों की इस देश में कमी नहीं है. उन की मोटी अक्ल में अभी भी यह बात पैठ नहीं पा रही है कि परिश्रम व सेवा करने वाले वर्ग को शूद्र की श्रेणी में रखने में आर्यों ने कौन सी बुद्धिमानी और विशाल हृदयता का परिचय दिया था. ऐसे समर्थक विशेषतया ऊंची कही जाने वाली जातियों में से ही मिलेंगे, जिन का अपने

निम्न स्वार्थ की दृष्टि से ऐसा सोचना स्वाभाविक है. पर वे यह भूल जाते हैं कि संसार में हम से भी अधिक बड़े व पुराने देश मौजूद हैं, जहां बड़ेबड़े समाजों की रचना हुई है और वे बिना जाति व्यवस्था के ही हम से अधिक समृद्ध, शक्तिमान व चरित्रवान हुए हैं.

यही स्थिति कर्म, पुनर्जन्म व मोक्ष के सिद्धांतों की भी रही. इन तीनों का परस्पर बड़ा संबंध रहा है. जो कुछ हम इस जन्म में है, वह पूर्वजन्म के अच्छे व बुरे कार्यों के कारण है तथा जो कुछ हम इस जन्म में करेंगे, उस का फल हमें अगले जन्म में मिलने वाला है. आत्मा अमर है जो अच्छे और बुरे कार्यों के अनुसार प्राणी रूपी चोला बदलती रहती है. मनुष्य का धर्म है कि वह आत्मा को इस जन्ममरण के चक्कर से बचा कर परमात्मा से साक्षात्कार कराए. इस साक्षात्कार के मार्ग में सब से बड़ी बाधा इस संसार के विविध आकर्षण हैं, जिन्हें मायाजाल कहा जाता है. इस मायाजाल से बचने का एकमात्र उपाय इंद्रियनिग्रह तथा आत्मचिंतन है. इसी से मोक्ष की प्राप्ति संभव है. मोक्ष ही वह अवस्था है जहां पहुंचने के पश्चात मनुष्य को बारबार इस दुनिया में आ कर जन्म नहीं लेना पड़ता. वह ब्रह्मानंद में लीन हो जाता है.

हिंदू धर्म में मोक्ष प्राप्ति मनुष्य जीवन का चरम व पुनीत लक्ष्य है. मोक्ष को लोगों ने अपने दृष्टिकोण से देखा है. एक श्रेणी में वे लोग आते हैं जो मोक्ष का तात्पर्य जन्ममरण के बंधन से मुक्त हो कर परमब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाना मानते हैं. मोक्ष प्राप्ति के बाद प्राणी को इस संसार रूपी मायाजाल में नहीं आना पड़ता और चौरासी लाख योनियों में आ कर जीने की यंत्रणा से मुक्ति मिल जाती है. इस तरह की मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म की इतनी जरूरत नहीं, जितनी चिंतन व आत्मनिग्रह की है. कर्म की आवश्यकता तो तब हो, जब संसार में रहा जाए. पर जब संसार को मायाजाल समझ कर छोड़ने का ही आदर्श सामने हो तो फिर स्पष्ट है कि कर्म किया ही न जाए या फिर उसे कम से कम किया जाए.

इस विचार को हिंदू समाज में इतनी अधिक मान्यता मिली कि जिस ने हाथपैर कम से कम हिलाए वही पूजनीय माना जाता रहा. आज भी समाज में उन की प्रतिष्ठा कम नहीं है.

दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो मोक्ष को स्वर्ग प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते हैं. इन लोगों के मन में स्वर्ग की एक अस्पष्ट सी कल्पना होती है. इंद्रपुरी में उन के लिए एक स्थायी स्थान का प्रबंध होता है, जहां उन्हें राजा इंद्र की प्रजा के रूप में सब प्रकार के सुख व ऐश्वर्य भोगने का 'अनियंत्रित' अधिकार मिलता है. अतः ऐसे व्यक्तियों के लिए मोक्ष प्राप्ति सब प्रकार की सुखसुविधाओं को भोगने का 'लाइसेंस' था जो उन्हें इस संसार रूपी मायाजाल में प्राप्त नहीं हो सका था. यह एक तरह से बड़े स्वार्थों का त्याग था. यह नहीं कि उन्हें इस संसार के

आकर्षणों से लगाव नहीं था बल्कि यह कि इन आकर्षणों से भी अधिक आकर्षणों का समूह जब उन्हें स्वर्ग में उपलब्ध हो सकता है और वह भी केवल इंद्रियनिग्रह तथा चिंतन द्वारा तो फिर व्यर्थ में हाथपैर चला कर पसीना बहाने की मूर्खता क्यों की जाए? यह जीवन दुख और अभावों में ही सही, आगे अमरत्व प्राप्त कर के सदासदा के लिए क्यों न अनंत सुखों को भोगा जाए? इसी को उन्होंने 'नैष्कर्म्य सिद्धि' माना.

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि समाज उपेक्षित रहता. मोक्ष की कल्पना जिन लोगों ने की उन्होंने समाज की ओर ध्यान नहीं दिया. समाज तो जैसे उन्हें काट खाने को दौड़ता था. जिस समाज में वे पले, बड़े हुए और मोक्ष की बात सोचने के काबिल हुए, वही समाज उन्हें मायाजाल लगने लगा और उसे जल्द से जल्द छोड़ने का उन का आदर्श हो गया. इस से बढ़ कर घोर अकृतज्ञता और क्या हो सकती थी? अगर समाज से लगाव रखते और उसी का चिंतन करते तो समाज के अभाव भी उन्हें दिखाई देते और उन्हें दूर करने की भी उन्हें सूझती. लेकिन ऐसा करने में उन को परिश्रम करना पड़ता और हाथपैर हिलाने पड़ते जो कि शूद्रों का काम घोषित कर दिया गया था. अतः अपना पद सुरक्षित रखने के लिए उन को कर्म व पुनर्जन्म का सिद्धांत निकालना पड़ा.

इस सिद्धांत से उन्हें एक लाभ तो यह हुआ कि समाज को जो वर्णव्यवस्था आर्यों ने सौंपी थी उस का दार्शनिक आधार मिल गया. अब वे कर्मणा जाति को जन्मना जाति के रूप में परिणत कर सकते थे और सदासदा के लिए अपना ऊंचा पद सुरक्षित रख सकते थे. दूसरे, यह कि शूद्र वर्ग के कहे जाने वाले व्यक्ति जो कभी साहस बटोर कर विद्रोह करते या आगे आने का प्रयत्न करते, जैसा कि अन्य देशों में हुआ, ऐसा करने से उन्हें वंचित कर दिया गया. जब उन्हें पूर्वजन्म के अपने बुरे कृत्यों का दंड इस जन्म में सुना दिया गया तो उन के लिए इस जन्म में यह दंड भोगने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहा.

इस के अतिरिक्त जाति की मर्यादा को लांघना भी धर्म विरुद्ध घोषित कर दिया गया. अतः इस जन्म में अगर दुख व गरीबी है तो उसे भोगना ही स्वधर्म माना गया. 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह' के सिद्धांत के आधार पर जो जहां है वहीं बना रहे और स्वधर्म का पालन करता रहे. शूद्रों से घृणा करना ब्राह्मण का स्वधर्म मान लिया गया और ब्राह्मणों को पूजना शूद्रों का स्वधर्म. शताब्दियों तक चली आ रही इस व्यवस्था ने बेचारे शूद्रों को इस बुरी तरह से आत्मसम्मान से हीन कर दिया कि आज जब उन्हें पूरे अधिकार प्राप्त हैं तो भी वे आगे आने की हिम्मत नहीं कर पा रहे हैं. एक तरह से सभी जातियों की यही स्थिति है. इस व्यवस्था में हजारों वर्षों तक रहने से सब का पूरी तरह 'ब्रेनवाश' हो चुका है और वे ऊंची व नीची जाति के होने की अपनी कुंठाओं में जी रहे हैं.

इन सब व्यवस्थाओं ने हिंदुओं को समाज से विमुख तथा भाग्यवादी बना

1700/9

दिया. समाज जैसा कुछ है उसे पूर्व निश्चित और पूर्व निर्धारित मान लिया गया जिसे बदलना हमारे वश की बात नहीं थी. जमाने के साथ न बदलने वाले समाज में कई अभाव और अभियोग होने स्वाभाविक थे. श्रम को प्रतिष्ठा व पुरस्कार न मिलने से गरीबी थी, तथा मानव समुदाय में समानता न बरती जाने से भेदभाव व फूट थी. अपने ही द्वारा बिगड़ी हुई इस व्यवस्था को हम ने पूर्वजन्म के अपने अच्छे और बुरे कर्मों का फल मान लिया और इस को सुधारने का प्रयत्न नहीं किया. इसलिए मोक्षप्राप्ति के अतिरिक्त और कोई उपाय उन के पास नहीं रह गया जो इन कष्टों से छुटकारा दिलाता. इस तरह मोक्ष उन के लिए एक महान पलायन था या तूफान से टक्कर लेने की शुतुरमुरगी चाल थी.

लेकिन यहां पर भी हम निम्न स्वार्थ का परिचय देना नहीं भूले. शूद्रों को हम ने मोक्ष के अधिकार से वंचित कर दिया. अगर ऐसा नहीं करते और शूद्र भी मोक्ष प्राप्ति के लिए समाज से किनारा कर लेते तो ऊपर बैठे लोगों को कौन खिलातापिलाता व कौन उन की सेवा करता? अतः शूद्रों का मोक्ष इसी में रखा गया कि वे ऊंची जातियों की सेवा करें. वे उन की घृणा व भेदभाव को भगवान का प्रसाद समझ कर ग्रहण करते रहें, धर्म व दर्शन ग्रंथ न पढ़ें और न सुनें तथा भूल कर भी विद्रोह की बात न सोचें, यानी स्वधर्म से च्युत न हों. शूद्रों ने भी कभी अक्ल से काम नहीं लिया, उच्च वर्ग वालों के स्वार्थ को नहीं पहचाना और हजारों वर्षों तक आत्मसम्मान से हीन जिंदगी जीते रहे.

ऐसी स्थिति में इस समाज को देखने वाला कोई नहीं रहा. जो लोग मोक्ष प्राप्ति के चक्कर में लगे रहे वे समाज की उपेक्षा करते रहे, और जो शूद्र थे व समाज के अभावों व अभियोगों से टक्कर ले रहे थे, वे इतने निर्बल, अधिकारहीन व आत्मसम्मान से हीन कर दिए गए थे कि वे चाहते हुए भी कुछ कर नहीं सकते थे. ऐसे समाज का कमजोर होना स्वाभाविक था.

हिंदू समाज एक स्वस्थ समाज का रूप ग्रहण नहीं कर पाया. अतः जब बाहर से आक्रमण हुए तो कोई कुछ कर नहीं सका. ब्राह्मण जो प्रकांड पंडित होने के साथसाथ युद्धविद्या में भी निष्णात थे, जिन की तपस्या से प्रतापी इंद्र का सिंहासन डोलता रहता था तथा जिन के शाप से क्या कुछ नहीं हो सकता था वे अपने मंदिरों तथा देवमूर्तियों को टूटते देखते ही रह गए. अजामिल जैसे पापी को तारने वाला उन का प्रभु अपने भक्तों की रक्षा करना तो दूर स्वयं को बचाने में भी असमर्थ हो गया. मुट्ठी भर विदेशियों के सामने हम करोड़ों हो कर भी अपने इस महान कहे जाने वाले धर्म की रक्षा नहीं कर पाए. सैकड़ों वर्षों तक गाएं कटती रहीं पर न तो गौभक्त ही उन्हें बचा पाए और न गोपाल ने ही उन की सुधि ली. यही हाल क्षत्रियों का भी रहा. अधिकार व भोग के लिए उन्होंने भी सब सिद्धांत व आदर्श ताक में रख दिए और पूरी अवसरवादिता का परिचय दिया. उन के लिए देश व धर्म का कोई महत्त्व नहीं रहा. नतीजा यह हुआ कि हम शताब्दियों तक गुलाम बने रहे.

इस गुलामी के दुख को भुलाने के लिए फिर हम ने वही अपनी चिरपरिचित शुतुरमुरगी चाल का सहारा लिया और वर्णव्यवस्था के बड़े दायरों से जातियों के छोटे दायरों में सिर घुसाते गए. हर तूफान के साथ हम सिमटते गए और अंततः सैकड़ों जातियों व उपजातियों के छोटेछोटे घेरों में जा कर बंद हो गए थे. इस से हमारे कष्टों व कुंठाओं में और भी वृद्धि होती गई और ज्योंज्यों वृद्धि हुई हमें मोक्ष की अधिक जरूरत महसूस होने लगी. फलस्वरूप हम उस ईश्वर का चिंतन करते रहे जो हमारे चारों ओर छाया हुआ था. हम आत्मशुद्धि में लीन रहे और अपने चारों ओर कूड़ाकचरा इकट्ठा हो जाने दिया. ज्योंज्यों बाहर की गंदगी बढ़ी हमें यह समाज और भी कष्टकर लगने लगा और हम इस से और भी दूर भागते गए. हम ने यह नहीं देखा कि जीवन में जो अभावअभियोग हैं वे सब इस समाज की अव्यवस्था के कारण ही हैं और इन्हें दूर करने के लिए समाज को बदलना ही एकमात्र उपाय है.

हमारी इस असामाजिकता ने अबौद्धिकता को जन्म दिया. हमारे अस्पष्ट सिद्धांतों के कारण हिंदुओं का जीवन एक विरोधाभास बन कर रह गया. हम ने चौरासी लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ योनि मानव योनि को माना किंतु दूसरी ओर मानवों की बस्ती इस समाज को मायाजाल भी घोषित कर दिया. हिंदू धर्म के महान प्रणेता ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कह कर हिंदुओं को ऐसी दुविधा में फंसा दिया कि न तो उन से यह जीवन भोगते बनता है और न छोड़ते. चौरासी लाख योनियों में जीने का डर भी कम नहीं है. अतः जो भोगते हैं वे भी पछताते हैं कि यह अमूल्य जीवन बिगाड़ दिया और जो छोड़ते हैं वे भी पश्चात्ताप करते हैं कि स्वर्ग व मोक्ष तो जाने कब मिलेगा, यह अमूल्य जीवन तो अकारथ गया. फलस्वरूप न तो लगन व ईमानदारी से समाज का ही काम हो पाया और न धर्म का ही.

अतः अब समय आ गया है कि हम कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष के सिद्धांतों के चक्कर से हिंदू समाज को निकाल कर उसे नई दिशा दें, नई चेतना दें. पिछले हजारों वर्षों से हम ने यह प्रयोग कर के देख लिए हैं और उस प्रयोग से हमारी जो दशा हुई है वह किसी से छिपी नहीं है. अब थोड़े समय तक समाज का चिंतन कर के भी देख लें. अगर अब भी हम ने इतिहास से कुछ सबक लेने की तत्परता नहीं दिखाई तो फिर इस समाज के उद्धार का कोई उपाय नहीं है. हिंदू समाज में क्याक्या कमियां हैं और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है, इस पर बौद्धिक दृष्टि से विचार व कार्य करें. चिंतन करें तो समाज का, रिझाएं तो समाज को और शृंगार करें तो समाज का. स्वस्थ व सुंदर समाज में रहने के आनंद से बढ़ कर मोक्ष का आनंद क्या होगा?

विश्व बुक्स व सरिता (पाक्षिक पत्रिका) और हिंदू समाज

हम समयसमय पर ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करते रहते हैं, जिन में हिंदू समाज और प्राचीन भारतीय संस्कृति के उन पहलुओं की विवेचना की जाती है, जो हमें अंधविश्वास, कूपमंडूकता व जहालत की तरफ ले जाते हैं और राष्ट्र की उन्नति में बाधक बने हुए हैं.

इस उद्देश्य में हमें पाठकों के एक बड़े वर्ग का हार्दिक सहयोग मिल रहा है. कुछ लोग अवश्य हमारी इस नीति से रुष्ट हैं. उन से निवेदन है कि हम हिंदू समाज के एक अभिन्न अंग हैं और हमारे मन में उसे एक आधुनिक, शक्तिमान और प्रगतिशील रूप देने की अभिलाषा है. 1950 में भारतीय संविधान के लागू होने पर अनुच्छेद 51 ए के अंतर्गत सभी नागरिक का मूल कर्त्तव्य– *"(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करें."* इसलिए भी हम सभी पाठकों के समक्ष स्वतंत्र विचार रख कर नई प्रगति के लिए आशा जागृत करना अपना ध्येय समझते हैं, क्योंकि यह हमारा राष्ट्रीय कर्त्तव्य भी है.

क्या हिंदू सहनशील और उदार हैं?

हम से यह भी अकसर कहा जाता है कि हम अन्य धर्मों और समाजों की आलोचना कर के देखें, हमें कैसा मजा चखाया जाएगा. ये हिंदू ही हैं जो इतने उदार और सहनशील हैं कि अपनी आलोचना सह लेते हैं.

ये दोनों बातें गलत हैं. जहां तक प्रश्न है, हम सहनशील व उदार भी हैं. वह केवल कहने का भ्रम है. धर्म के नाम पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, भाजपा, विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल और इसी तरह की अन्य भगवा संस्थाओं के सभी कार्यकर्ता किसी भी प्रकार की आलोचना सुनने, समझने का प्रयास नहीं करते. उन की वानर सेना हिंसा यानि अति हिंसा पर उतर आती है. बाबरी मसजिद, फायर, वाटर पिक्चर के निर्माण, पुस्तक मेलों में प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित विचार

विमर्श की पुस्तकों को जलाना इस के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं. जो गोधरा में हुआ उस के बाद भी हम क्या उदार होने का दावा कर सकते हैं?

दूसरे समयसमय पर अन्य सभी भारतीय समाजों में व्याप्त रूढ़ियों और अंधविश्वासों की आलोचना होती रहती है. पर दूसरे समाजों की आलोचना होती है या नहीं, इस से हिंदू समाज को क्या लाभ या हानि होती है?

यह उस बीमार, जर्जरित, बुद्धिहीन और अपनी नाक से छह इंच अधिक दूर न देख सकने वाले व्यक्ति की दलील है, जो अपने मर्ज की तफतीश करने वाले, कड़वी दवा पीने या आपरेशन कराने की सलाह देने वाले डाक्टर को यह कह कर उलाहना देता है कि आप मेरे पड़ोसी को कड़वी दवा पीने और आपरेशन कराने की सलाह दीजिए तब मैं जानू. वह मरीज यह भूल जाता है कि मरीज वह स्वयं है, उस का पड़ोसी नहीं. यदि पड़ोसी को दवा पिला भी दी जाए और उस का आपरेशन कर भी दिया जाए, तब भी उसे स्वयं कोई लाभ नहीं होगा. उस का लाभ तो स्वयं उस के अपने मर्ज की तफतीश कराने, दवा पीने या आपरेशन कराने में है.

कौन सा समाज गुलाम रहा है?

यह निर्विवाद है कि अन्य धर्मों व समाजों की अपेक्षा हिंदू समाज में अधिक कुरीतियां, पाखंड, अंधविश्वास व अन्याय हैं. संसार में और कौन सा समाज और धर्म इतने समय तक विदेशियों और विधर्मियों का गुलाम रहा है? अन्य धर्मों व समाजों को सुधार व परिवर्तन की आवश्यकता होगी तो वे स्वयं इस का प्रबंध कर लेंगे. हर व्यक्ति को अपने ही धर्म और समाज की चिंता करनी चाहिए. दूसरे धर्मों की आलोचना से सांप्रदायिक मनमुटाव ही बढ़ता है, कहीं कुछ सुधार नहीं हो पाता.

इस बात में भी कोई सार नहीं है कि हिंदू उदार व सहनशील हैं. सारे इतिहास में धर्माधिकारियों ने कभी भी उन विचारों को पनपने फलने नहीं दिया, जिन से उन की रोजीरोटी पर आंच आती हो या जो पुरानी परंतु बेकार रूढ़ियों व अंधविश्वासों के विरुद्ध हों. वर्तमान उपलब्धि धार्मिक व दर्शन संबंधी साहित्य में कोई भी ग्रंथ ऐसा नहीं है जो प्रचलित रूढ़ियों मान्यताओं का आमूल रूप से विरोधी हो. समाज सुधारकों को तो हमेशा सताया गया, जातिच्युत किया और मार डाला गया है. प्राचीन काल में बौद्धों का जाति संहार और वर्तमान काल में स्वामी दयानंद व महात्मा गांधी को मरवा डालना इस के छोटे से उदाहरण हैं.

धर्माधिकारियों/भक्तों द्वारा देश का नाश

जहां तब हमारा संबंध है, शुरू से ही धर्माधिकारियों व उन के भक्तों का हमें भी सर्वथा नष्ट कर देने का प्रयत्न रहा है. कभी संपादक/प्रकाशक को मार डालने का प्रयत्न किया गया तो कभी सरिता कार्यालय को आग लगाई गई और दंड विधान की धारा 295 ए (धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाना) के अंतर्गत मुकदमे

तो धर्माधिकारियों के आग्रह आंदोलन पर सरकार द्वारा हर समय चलते ही रहते हैं. सरिता का जहां भी संभव हुआ आर्थिक बहिष्कार किया गया–अभी भी हजारों संस्थानों में यह ब्लैक लिस्ट में शामिल है. 1998 में जैसे ही भारतीय जनता पार्टी केंद्र मे सत्ता में आई, तभी श्री एल.के. आडवानी और श्री अटल बिहारी वाजपेयी की सहमति से पंजाब के भाजपा के प्रभारी के गुस्से के द्वारा राजपूरा में सरिता के संपादक श्री विश्वनाथ पर एक मुकदमा 295 ए पर दायर किया. पंजाब पुलिस भी आननफानन में संपादक को गिरफ्तार करने दिल्ली पहुंची. लेकिन न्यायालयों के द्वारा जमानत पर रिहा कर दिया गया. इसी प्रक्रिया के दौरान कई वरिष्ठ संपादकों ने भाजपा नेता के द्वारा यह फैसला कराने की कोशिश की गई, जिस में एक मांग यह भी थी कि सरिता की सभी पुरानी सामग्री उन को सौंप दी जाए.

दरअसल मूल बात यह है कि भाजपा सरिता को नष्ट करना चाहती थी. इस पर भी सरिता जीवित है और फलफूल रही है. इस का कारण यह है कि अब सरिता की प्रेरणा से हिंदू समाज में एक प्रबुद्ध वर्ग पैदा हो गया है जो अपनी 2000 वर्ष की लंबी गुलामी और वर्तमान पिछड़ेपन व गरीबी से बहुत खिन्न है और इस के कारणों को खोज कर हिंदू समाज को गतिमान बनाना चाहता है.

यह भी पूछा जाता है कि हम हिंदू समाज के उज्ज्वल पक्ष पर प्रकाश क्यों नहीं डालते. हमारा निवेदन है कि उस की प्रशंसा तो हम हजारों वर्षों से, हर घड़ी निरंतर सुनते रहे हैं. आज भी अखबारों, रेडियो, टीवी व टीवी चैनलों के प्रोग्रामों व धार्मिक सभाओं में इस प्रकार के भाषणों और लेखों की तो जैसे बाढ़ आई हुई है. यह सब क्या काफी नहीं है? और सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न है–यह उज्ज्वल पक्ष है कौन सा? वह कौन सी प्रथा, नियम या विशेषता है, जिस की विशेष प्रशंसा की जाए?

क्या आत्मप्रशंसा ही धर्म का उज्ज्वल पक्ष है?

थोथी आत्मप्रशंसा द्वारा अपनेआप को जगदगुरु व आध्यात्मिक नेता कह कर हम अपने मुंह मियां मिट्ठू बन सकते हैं. पर इस से दूसरों को बेवकूफ नहीं बना सकते. वे देखते हैं कि हिंदू 2000 वर्षों से गुलाम रहे हैं और जो धर्म, समाज इतने दिन गुलामी सह सकता है उस की अपनी महानता की बातों का क्या मूल्य है?

पिछले दो हजार वर्षों में हम ने सिर्फ पतन व गुलामी ही देखी है. हम बराबर यूनानियों, शकों, हूणों, तुर्कों, मंगोलों, फारसियों, अंगरेजों और यहां तक कि गिनेचुने अबीसीनियो, गुलामों, हब्शियों व ऐयाशों से भी हारते और रौंदे जाते रहे हैं. अब 2000 वर्ष बाद जो हम स्वतंत्र हुए हैं तो उस का बहुत कुछ कारण हमारा अपना बल और त्याग नहीं बल्कि संसार की नई राजनीतिक परिस्थितियां थीं. यह स्वतंत्रता भी देश को बांट देने पर मिली है और फिर 60-65 वर्षों की आजादी के बाद भी आज हम उन्हीं देशों से सहायता की भीख मांग रहे हैं, जिन्होंने हमें सदियों तक गुलाम बना कर रखा था.

कंधार का अपहरण

पिछले दो दशकों में सीमा पार से आने वाले आक्रमणकारियों से हम अपने को नहीं बचा पा रहे हैं, क्योंकि हम हिंदुओं में तो साहस है नहीं, ताकि उन से लड़ सकें. इस का उदाहरण तो वाजपेयी जी भी हैं, जिन्होंने संसद में आतंक के हमले पर सेना को पाकिस्तान पर आक्रमण के आदेश दिए तो गए पर जब तक सेनाएं सीमा तक पहुंचीं, सारे हौसले पस्त हो गए. हम केवल मिट्टी के शेर हैं. इजराइल की तरह नहीं जो ईंट का जवाब पत्थर से देता है. हमें अपने को बचाने के लिए पश्चिमी देशों से भी याचना करनी पड़ रही है. भाजपा सरकार जो हिंदुओं के लिए ईंट से ईंट बजाने तथा हिंदू धर्म का झंडा विश्व भर में गाड़ने का दावा करती है. वह कितनी बेबस थी, जब कंधार में इंडियन एअर लाइंस का विमान अपहरण हो गया था. छुड़ाने की एवज में एक वरिष्ठ केंद्रीय मंत्री को बंधक की तरह आतंकवादियों के साथ अपने यात्रियों को छुड़ाने जाना पड़ा. क्या यही है हम भाजपा (हिंदुओं) का पुरुषार्थ? क्या इसी पर अपनी 2000 वर्ष पुरानी संस्कृति के श्रेष्ठ होने का गाना गाते हैं.

चूहों जैसी जिंदगी में क्या खूबी है?

हिंदू बुद्धि और बाहुबल में संसार की किसी भी जाति से कम नहीं हैं. फिर यह लगातार 2000 वर्षों की गुलामी क्यों? क्या केवल गुलाम बन कर, चूहों की तरह अपनी संख्या बढ़ा कर ही हिंदू जिंदा रह सकते हैं? इस तरह जीवित रहने में कौन सी खूबी है?

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के वर्षों की कहानी तो और भी भयानक है. सारे देश में आपाधापी, भ्रष्टाचार, भाईभतीजावाद और बेईमानी का राज्य हो गया. ईमानदार, कर्मनिष्ठ और वफादार व्यक्ति का जिंदा रहना असंभव हो गया. आखिर क्यों?

हमारा विश्वास है कि यह हिंदू समाज की चरित्रहीनता व अनैतिकता का परिणाम है और इस का सीधा संबंध हमारे धर्मशास्त्रों, दर्शनशास्त्र संबंधी सिद्धांतों, आदर्शों और आकांक्षाओं से है.

हमें अकर्मण्य, भाग्यवादी व स्वार्थी बना दिया

पुनर्जन्म व मोक्ष के सिद्धांतों ने हमें परलोकवादी, अकर्मण्य, भाग्य के आसरे जीने वाला व हद दर्जे का स्वार्थी व व्यक्तिवादी बना दिया है. बदले में कुछ चाहे बिना समाज या देश के प्रति हमारा क्या व्यक्तिगत कर्तव्य है, इस की प्रेरणा हमें कहीं नहीं मिलती.

श्री रामचंद्र ने रावण से युद्ध इसलिए नहीं किया कि उस से देश या समाज की कोई प्रगति होनी थी. उन्होंने युद्ध केवल अपनी पत्नी सीता को मुक्त कराने

के लिए लड़ा. अन्यथा 13 वर्ष चुपचाप बैठे रहने का क्या औचित्य था? और जब रावण की मृत्यु के उपरांत सीता को श्री राम के सम्मुख लाया गया तो उन्होंने उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया. यह कह कर कि वह रावण के यहां रहने के बाद वह भ्रष्ट हो चुकी है.

वास्तव में रावण पर विजय भी रणकौशल या शूरवीरता से नहीं, रावण के भाई विभीषण की गद्दारी से, जिसे रावण की गद्दी और रावण की रानी मंदोदरी देने का प्रलोभन दिया गया था, प्राप्त की गई. इस में कौन से धर्म या नैतिकता की स्थापना थी?

नैतिकता और अनैतिकता में कोई भेद नहीं?

श्रीकृष्ण ने भी कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन को देश या समाज के हित में लड़ने के लिए प्रेरित नहीं किया बल्कि पृथ्वी पर व्यक्तिगत राज्य स्थापित करने या स्वर्गप्राप्ति के लिए किया. फिर यह गृहयुद्ध या भाईभाई का युद्ध, जिसे हम धर्मयुद्ध मानते हैं, छल, कपट व कूटनीति से जीता गया, किसी स्वच्छ आचरण या शौर्य से नहीं. श्रीकृष्ण ने अपनी सारी सेना तो कौरवों को दी और स्वयं निहत्थे पांडवों की ओर रहे, ताकि जो जीते उन का आभारी रहे! जिस देश, समाज व धर्म में महान व आदर्श पुरुष भी अपने भाइयों से छल, कपट व कूटनीति द्वारा विजयी हों, वहां साधारण व्यक्ति को सदाचार की क्या आवश्यकता है?

इसी प्रकार धर्मशास्त्रों में निहित वर्ण व जाति के सिद्धांतों ने हिंदुओं के बीच हजारों दीवारें खड़ी कर के एक हिंदू को दूसरे हिंदू का दुश्मन बना दिया है.

धर्मशास्त्रों ने व्यक्ति को व्यक्ति न कह कर हमेशा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ही कहा है. ईश्वर के पूर्ण अवतार श्रीकृष्ण द्वारा स्त्री, शूद्र और वैश्य को तो पापयोनि वाला घोषित किया गया है (गीता: 9-32). शूद्रों व स्त्रियों पर भयानक अत्याचार भी इन्हीं शास्त्रों की प्रेरणा से हुए हैं. समाज के 90 प्रतिशत समुदाय–वैश्य, शूद्र और स्त्री को जानबूझ कर निपट निरक्षर रखा गया–भगवान के अवतार श्री रामचंद्र ने तो शूद्र शंबूक की निर्मम हत्या ही इसी लिए की थी कि वह पढ़नेलिखने का प्रयत्न करता था!

भ्रष्टाचार व अकर्मण्यता को संरक्षण

धर्मगुरुओं व शास्त्रों ने हिंदुओं द्वारा हजारों देवीदेवताओं को चढ़ावा चढ़ाने, रिश्वत देने, उन के नाम रटने से अपने कुकर्मों के परिणाम से बचने या सुखऐश्वर्य प्राप्त करने का विधान कर के भ्रष्टाचार व अकर्मण्यता पर धर्म की मोहर लगा दी, जिस के कारण देश में कोई काम बिना स्तुति, खुशामद व रिश्वत के होता ही नहीं और सब अजामिल की तरह केवल राम नाम के सहारे, केवल कीर्तन, हवन व पूजा से जीवन की सारी समस्याएं हल करने का प्रयत्न करते रहते हैं. महमूद

गजनवी सोमनाथ के दरवाजे पर आ खड़ा होता है पर धर्मगुरु बजाय उस से लड़ने के पूजाकीर्तन में लगे रहते हैं और नतीजा?

हम से कहा जाता है कि हमें किसी की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने का अधिकार नहीं है. यदि किसी को इन शास्त्रों, इन देवीदेवताओं में विश्वास है तो हमें उस विश्वास को ठेस नहीं पहुंचानी चाहिए. यह तर्क गलत है. यदि समाज का एक वर्ग कोई ऐसा काम कर रहा है जो समाज की प्रगति में बाधक है तो समाज के हर हितैषी का यह कर्तव्य ही नहीं, अधिकार भी है कि वह उस की आलोचना करे. यदि कुछ लोग अंधश्रद्धा के कारण आज भी सतीप्रथा, नरबलि व बालिका वध में विश्वास करते हैं तो क्या उन्हें नहीं रोका जाएगा? यदि कोई शास्त्रों में विश्वास रखने के कारण छुआछूत का पुजारी है तो क्या उस की आलोचना नहीं की जाएगी?

खोज व शोध के बाद ही धर्म शास्त्रों का प्रकाशन

हमारे प्रकाशन काफी खोज व शोध व बाद धर्मशास्त्रों व अन्य मान्यता प्राप्त ग्रंथों के आधार पर लिखे जाते हैं. पर 99 प्रतिशत हिंदुओं ने इन आधार ग्रंथों को पढ़ने की तो बात ही क्या, शक्ल भी नहीं देखी है. वेदों में भरे हुए तथाकथित असीमित ज्ञान के गुणगान सुन कर, शहर की रामलीला व कृष्णलीला देख कर, पाठ्य पुस्तकों में संक्षिप्त कहानियां पढ़ कर या कुछ इधरउधर भाषण सुन कर वे समझ लेते हैं कि उन्होंने वेद, पुराण, रामायण व महाभारत आदि सभी पढ़ लिए हैं.

ग्रंथों के पढ़ने पर रोक

पर जब इन ग्रंथों में लिखी बातें उन के सामने अविकल रूप में रखी जाती हैं, वे न केवल चौंक जाते हैं, बल्कि बौखला भी उठते हैं, जिस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि इन ग्रंथों में बहुत सी सामग्री न तर्कसंगत है, न समयानुकूल है. इसी कारण पुरोहित वर्ग ने इन्हें अन्य किसी वर्ग को छूने तक नहीं दिया. जहां ईसाई बाइबिल की करोड़ों प्रतियां सैकड़ों भाषाओं में अनुवाद कर के संसार भर में मुफ्त बांटते हैं, पढ़वाते हैं, वहां हमारे यहां धर्मशास्त्रों में विधान है कि वेद का यदि एक शब्द भी शूद्र (और स्त्री व वैश्य) के कान में पड़ जाए तो उस के कान में गरम सीसा भर दिया जाए. इस के अतिरिक्त हमारे सारे ग्रंथ संस्कृत में हैं और इस तथाकथित देवभाषा संस्कृत को (अंगरेजों के आने से पहले) सिवाए कुछ ब्राह्मणों के किसी को भी पढ़ने का अधिकार तक ही नहीं था.

हमारे साहित्य, हमारे आचारव्यवहार, हमारी सामाजिक प्रथाओं और विचारधारा पर इन ग्रंथों व शास्त्रों का गहरा प्रभाव है. हम सैकड़ों ऐसे काम करते हैं जिन के आधार यही ग्रंथ हैं. इन ग्रंथों के गलत विचारों, मान्यताओं को समाप्त करना ही होगा.

नए विचार व नई सोच की आवश्यकता

हिंदू समाज द्वारा समय के अनुसार अपनेआप को ढालने की बड़ी आवश्यकता है. वह अपने शाश्वत, सनातन विचारों को नई शक्ति भी दे सकता है. यह तभी संभव है जब हम बदलते हुए युग में अपने पुराने घिसेपिटे रूप पर फिर से विचार करें, चाहे भूतकाल में उसे कितनी भी मान्यता दी गई हो और हर ऐसी बात को, जो हमें आगे बढ़ने से रोकती है अपने धर्म, अपने जीवन दर्शन, अपने आचारविचार से निकाल दें.

हमें विश्वास है कि हमें हिंदू समाज के पुनर्निर्माण के अभियान में न केवल अपने पाठकों का सहयोग मिलता रहेगा, बल्कि हमारे विरोधी और आलोचक भी हमारा मंतव्य ईमानदारी से समझने का प्रयत्न करेंगे और हिंदू समाज के नवजागरण, नवनिर्माण के प्रयास में हमारा हाथ बटाएंगे.

कुछ पाठकों के अनुसार– वे 'विश्व बुक्स व सरिता और हिंदू समाज' के अंतर्गत प्रकाशित एक टिप्पणी के निम्नांकित विचारों से असहमत हैं:

"हमारा विश्वास है कि यह कमजोरी हिंदू समाज की चरित्रहीनता व अनैतिकता का परिणाम है और इस का सीधा संबंध हमारे धर्मशास्त्रों, सिद्धांतों, आदर्शों और आकांक्षाओं से है."

किसी भी धर्म के धर्मग्रंथ व दर्शनशास्त्र किसी भी समाज को चरित्रहीनता एवं अनैतिकता की ओर अग्रसर नहीं करते, विशेषतया हिंदू धर्मग्रंथ व दर्शनशास्त्र विश्व में नैतिकता कायम रखने का दावा करते हैं. विचारों में अनैतिकता व चरित्रहीनता का सीधा संबंध व्यक्तिगत है, इस का संबंध हिंदू समाज के धर्मग्रंथों से नहीं है.

आप का यह कहना कि "किसी भी धर्म के धर्मग्रंथ व दर्शनशास्त्र किसी भी समाज को चरित्रहीनता व अनैतिकता की ओर अग्रसर नहीं करते," तथ्यों पर आधारित नहीं है.

हम दूसरे धर्मों की बात नहीं करते, क्योंकि उन के संबंध में हमारा (और आप का) ज्ञान निश्चय ही काफी सीमित है. लेकिन जहां तक खुद हमारे हिंदू धर्म का संबंध है, हम पूरे विश्वास के साथ कह सकते हैं कि हमारे अधिकतर धर्मग्रंथ–विशेषतया जिन की सब से अधिक मान्यता है–तथा दर्शनशास्त्र व सामाजिक आदर्श आदि हमें चारित्रिक पतन व नैतिक विनाश की ओर ही ले जाते हैं.

उदाहरण के लिए आप अपने धर्मग्रंथों को शुरू से देखते जाएं. सब से पहले तो 'ऋग्वेद' ही हमारा परम ग्रंथ है. लेकिन इस में आर्य जाति द्वारा भारत में मूल निवासियों (दास, दस्तु आदि) के जातीय संहार का जैसा वर्णन किया गया है, तथा आर्यों के परम इष्टदेव (इंद्र) का जैसा चरित्रचित्रण हुआ है, क्या वह सब आज के युग में किसी सभ्य व समुन्नत राष्ट्र के आदर्श बन सकते हैं?

आर्यों की हिंसावृत्ति तथा उन के परम देव इंद्र के कारनामों का यह लेखाजोखा देखिए:

"हमारे चारों ओर दस्यु जाति है. यह यज्ञ नहीं करती, कुछ मानती नहीं. यह अन्यव्रत व अमानुष है. हे शत्रुहंता इंद्र, तुम इस का वध करने वाले हो, दास का भेदन करो." (ऋ. 10-22, 8)

"इंद्र, तुम यज्ञाभिलाषी हो. जो तुम्हारी निंदा करता है उस का धन अपहृत कर के तुम प्रसन्न होते हो. प्रचुरधन इंद्र, तुम हमें (अपनी) दोनों जांघों के बीच छिपाओ. शत्रुओं को मारो. अस्त्र से दास को मार डालो." (ऋ. 8-59, 10)

"हे इंद्र, तुम ने पचास हजार काले लोगों को मारा." (ऋ. 4-16, 13)

"इंद्र, तुम समस्त अनार्यों को समाप्त करो..." (1-113, 5)

"तुम ने पृथ्वी को दास की शय्या बना दिया है." (1-174, 7)

"रक्षाशून्य दुर्गम स्थान से जाने वाले व्यक्ति को जैसे चोर मार डालता है, उसी तरह इंद्र ने बहुसहस्त्र सेनाओं का वध किया है." (4-28, 3)

"इंद्र ने असुरों (अनार्यों) के धन पर तुरंत उसी तरह अधिकार कर लिया, जिस तरह सोए हुए मनुष्य के धन पर अधिकार जमाया जाता है." (1-53, 1)

"इंद्र और अग्नि, तुम लोगों ने एक ही बार की चेष्टा से दासों के 90 नगरों को एक साथ कंपित किया था." (1-130, 7)

इंद्र कहते हैं, "मैं ने सोमपान में मत्त हो कर शंबर (दास राजा) के 99 नगरों को एक काल में ही ध्वस्त किया था." (4-26, 3)

इंद्र कहते हैं, "मेरे लिए इंद्राणी के द्वारा प्रेरित याज्ञिक लोग 15-20 सांड या बैल पकाते हैं, उन्हें खा कर मैं मोटा होता हूं. मेरी दोनों कुक्षियों को याज्ञिक लोग सोम से भरते हैं." (10-86, 14)

ये सब हमें क्या सीख देते हैं? यही कि जो लोग हमारी जाति के न हों, अथवा हमारे धर्म को न मानते हों, उन का हमें संहार कर देना चाहिए. हमें दूसरे देशों पर आक्रमण करना चाहिए व अगर वहां के लोग नतमस्तक हो कर हमारी सत्ता स्वीकार न करें तो हमें उन के नगरों की ईंट से ईंट बजा देनी चाहिए, और उन की स्त्रियों तक के पेट फाड़ डालने चाहिए, ताकि उन की जाति का नामोनिशान ही मिट जाए!

क्या आप इस बात को पसंद करेंगे कि यदि हम में अपेक्षित शक्ति हो, तो हमें आज भी इन्हीं आदर्शों का पालन करना चाहिए? हम जिस देश में जाएं, वहां के लोगों का धन हमें चोरों की तरह हड़प लेना चाहिए? हमें अपने एकएक आराध्य देव को खुश करने के लिए दर्जनों सांड या बैल मार कर पकाने चाहिए और नशा करने के लिए भंग (सोम) के कईकई घड़े भर कर रखने चाहिए?

'ऋग्वेद' में सिर्फ यही कुछ नहीं है. वहां एकएक यज्ञ में सैकड़ों घोड़ों, गायबैलों, भेड़बकरियों व अन्य जानवरों की बलि चढ़ाने का विधान है, यहां तक

कि नरबलि का संकेत भी मौजूद है. (देखिए ऋ. 10-91, 14, 15 व 1-24, 13-15) क्या आप के विचार में हमें आज भी ये सब कार्य करने चाहिए? और यदि हम करें अथवा कर सकें तो क्या हम आज के युग में 'साधारण मनुष्य' कहलाने के भी अधिकारी रह जाएंगे, चरित्रवान व नैतिकता संपन्न होने की बात ही क्या?

चलिए, वेदों को छोड़िए, उन की तो आज उतनी मान्यता भी नहीं रही, न उन में बताए गए विधिविधानों के अनुसार आचरण करने की आज कुछ अधिक गुंजाइश ही है. बाद के दर्शनशास्त्रों और धर्मग्रंथों को ही ले लीजिए, जिन के द्वारा स्थापित प्रायः सभी मानदंड व आदर्श आज के हिंदू समाज के भी आदर्श बने हुए हैं? ये ही सब शास्त्र हमें क्या पाठ पढ़ाते हैं? और हमें हमारे निजी व पारिवारिक तथा सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में किस प्रकार के आचरण का उपदेश देते हैं?

उपनिषदों की अलगअलग दार्शनिक दुकानों में हमें वेदों का हर देवता और कुछ नए देवता, बारीबारी से परमात्मा बनते दिखाई देते हैं. हर देवता अपनेआप को श्रेष्ठ बता कर शेष सब देवताओं को अपने में समाविष्ट घोषित करता है और हिंदू जाति को सिर्फ अपनी ही पूजा का निर्देश देता है.

ये उपनिषद हमें 'नेतिनेति' व आत्मा परमात्मा के गोरखधंधों में उलझा कर यथार्थ दुनिया से विमुख करते हैं. ये इस दुनिया को झूठ, प्रपंच, माया अथवा तुच्छ व त्याज्य घोषित कर के सिर्फ तथाकथित ब्रह्मज्ञान या परमात्मा के दर्शन तथा मोक्ष व निर्वाण को ही व्यक्ति के जीवन का ध्येय बताते हैं. ये एक तरफ तो साधारण लोगों को तप, त्याग और पुनर्जन्म की पट्टी पढ़ाते हैं, और दूसरी तरफ समर्थ लोगों के लिए 'विषयवस्तुओं में आसक्त हुए बिना' उन का आनंद लेने का मार्ग खुला छोड़ देते हैं. इस प्रकार ये आम लोगों को आलसी, अकर्मण्य व जड़बुद्धि बना कर इस दुनिया में जीने लायक नहीं छोड़ते. पर धूर्त लोगों को ढोंग व छलकपट के सहारे आनंदपूर्ण जीवन बिताने की सुविधाएं भी उपलब्ध कराते हैं.

राहुल सांकृत्यायन ने किसी जगह ठीक ही कहा है: संभवतया इन्हीं धूर्ततापूर्ण उद्देश्यों के कारण इन का नाम 'उपनिषद' (रहस्य) रखा गया था. ये उपनिषद सचमुच एक 'घोर रहस्य' ही हैं.

साधारण लोग उपनिषद नहीं पढ़ते, पर यह बात फायदे के बजाय उलटे नुकसान का कारण हुई है. यदि लोग इन शास्त्रों को (अब तो प्रायः सभी के हिंदी अनुवाद उपलब्ध हैं) ध्यानपूर्वक पढ़ें तो उन्हें यह समझने में देर न लगेगी कि उन में वस्तुतः कितनी धूर्तता भरी पड़ी है.

इन दर्शनशास्त्रों में यथार्थ जगत और जीवन का जैसा विवेचन है और जैसे विचारों का इन में प्रतिपादन हुआ है, उन्हें हिंदू जाति के जनमानस का अभिन्न अंग बना देने के लिए साधुओं व अन्य महात्माओं की एक अपार भीड़ पिछले दो हजार वर्षों से इस देश में विचार रही है. ये लोग खुद तो अकर्मण्य हैं ही, पर इन के

अस्तित्व का एक बड़ा उद्देश्य दूसरे लोगों को भी अकर्मण्य बनाना है. ये साधुसंत अकर्मण्यता के आदर्श हैं. इन में जो जितना ज्यादा अकर्मण्य है, वह उतना ही बड़ा सिद्ध कहलाता है. जनता तक उपनिषदों का महान दर्शन इन्हीं निकम्मे और ढोंगी साधुमुनियों द्वारा पहुंचता है और क्योंकि ये लोग अधिकतर बिलकुल निरक्षर व जाहिल होते हैं, इसलिए इस दर्शन में जो थोड़ाबहुत चिंतनमनन व गहराई है, वह भी इन पाखंडियों की करामात से नष्ट हो जाती है.

कुल मिला कर परिणाम यह है कि हमारे देश के आम लोग आज की दुनिया में सब से ज्यादा निकम्मे, जाहिल, पिछड़े हुए, अंधविश्वासी और कुप्रथावादी हैं. इस दर्शन और आचरण के रहते क्या आश्चर्य है कि हमारा देश पिछले 2000 वर्षों से लगातार गुलाम ही चला आ रहा था और आज भी जो यह तथाकथित स्वतंत्रता हमें मिली हुई है, इस में वर्तमान अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों का ही ज्यादा हाथ है, हमारे अपने बाहुबल, साहस और संघर्ष का बहुत कम.

'रामायण' को ही लीजिए. राजा दशरथ तीन विवाह करते हैं, पर पुत्र उत्पन्न नहीं कर पाते. इसलिए श्रृंगी ऋषि को 'पुत्रेष्टि यज्ञ' के लिए बुलाया जाता है. यज्ञ के लिए पुराने और बूढ़े पंडितों की क्या कमी थी जो इस नवयुवक को बुलाया गया. लेकिन यह 'यज्ञ' हवन न हो कर नियोग द्वारा दशरथ की रानियों को गर्भवती करना था–जो दशरथ करने में असमर्थ थे.

फिर सीता के मातापिता का कोई ठौरठिकाना नहीं मिलता. कहा जाता है कि वह राजा जनक को खेत में पड़ी मिली थी–जैसे आजकल 'अवैध' बच्चे सड़कों पर पड़े मिल जाते हैं.

क्या रामायण व महाभारत के समय के मापदंड का कोई औचित्य है?

अब महाभारत को ही लीजिए. इस में ऐसेऐसे महापुरुषों का चरित्रचित्रण है कि–कहते हैं, सम्राट अकबर ने जब अपने दरबारी विद्वान को इस का फारसी अनुवाद करने को कहा और कुछ दिनों के बाद पूछा कि उस ने इस ग्रंथ में क्या पाया तो उस विद्वान को विवश हो कर कहना पड़ा कि– "जहांपनाह, वैसे तो सब ठीक है मगर इस ग्रंथ में उल्लिखित एक भी व्यक्ति हलालजादा (वैध संतान) नहीं है, सब के सब ऐसे ही पैदा हो गए हैं!"

उस विद्वान की यह उक्ति काफी हद तक सही थी, क्योंकि महाभारत के अधिकतर पात्रों के जन्म लेने में या तो 'नियोग प्रथा' का खुला हाथ था अथवा स्वच्छंद व्यभिचार व बलात्कार का.

धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर तीनों भाई विचित्रवीर्य की स्त्री से व्यासजी द्वारा पैदा होते हैं. अंधे धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों का जन्म भी प्राकृतिक नहीं है, बल्कि वे सब रानी गांधारी के पेट से एक पिंड के रूप में ऐसे ही निकल पड़ते हैं. फिर पांडु के पांचों पुत्र–युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव–पांच अन्य व्यक्तियों के

नाम पर पैदा होते हैं. कुंती का पुत्र कर्ण बलात्कार की यादगार है. यही बात दूसरे कई महापुरुषों पर भी लागू होती है, जो इस धार्मिक महाकाव्य में अपनी भूमिकाएं अदा करते हैं, जैसे द्रोणाचार्य के बारे में कहा गया है कि वह एक दोने से पैदा हुए. जिस में किसी का वीर्य पड़ा हुआ था.

क्या आज के जमाने में 'महाभारत' की इन प्रथाओं व मान्यताओं को आदर्श मान कर चलने से किसी समाज में कोई नैतिक मानदंड शेष रह सकता है? खेद तो इस बात का है कि हिंदू समाज आज भी इस ग्रंथ में लिखी बातों को आदर्श मानता है. इस से पाखंडी साधु लोग ही अनुचित लाभ उठाते हैं. वे यज्ञ, होम द्वारा बांझ स्त्रियों के अथवा नपुंसकों की पत्नियों के बच्चे पैदा करने के नाम पर हर तरह का व्यभिचार करते हैं. लेकिन 'रामायण', 'महाभारत' आदि ग्रंथों पर विश्वास करने वाले हिंदू जब यह देखते हैं कि स्वयं भगवान राम और उन के तीनों भाई, पांडुपुत्र व अन्य महापुरुष सब अन्य व्यक्तियों द्वारा पैदा हुए हैं, तो वे आज भी अपनी स्त्रियों को साधुसंतों के पास भेजने में संकोच नहीं करते. और करें भी क्यों? यह सब धर्म के बिलकुल अनुकूल जो है.

श्रीराम का आचरण वास्तव में क्या है?

'रामायण' में श्री राम 'मर्यादा पुरुषोत्तम' हैं, अर्थात उन के द्वारा स्थापित हर मानदंड हिंदुओं के लिए चिर सत्य व अनुकरणीय है. लेकिन श्री राम का आचरण वास्तव में है क्या? उन की अनुपस्थिति में रावण उन की पतिव्रता स्त्री सीता का अपहरण करता है. और साल भर तक अपनी कैद में रखता है. लेकिन इस बीच न तो सीता ही उसे अपने शरीर का स्पर्श करने की अनुमति देती है और न खुद रावण ही (कारण चाहे कुछ भी बताया जाए) उस के साथ जोरजबरदस्ती करता है.

फिर भी सीता के उद्धार के बाद श्री राम सिर्फ लोगों की बकवास पर अथवा यों कह लीजिए कि अपना सिंहासन बचाए रखने के लिए, निर्दोष सीता का त्याग कर देते हैं और वह भी उस अवस्था में जब कि उस काल की मान्यताओं के अनुसार सीता अग्निपरीक्षा में भी पूरी उतरती है.

ऐसी हालत में कोई हिंदू, जो श्री राम को आदर्श धर्म की स्थापना करने वाला अवतार मानता है, अपनी किसी बहूबेटी को, जो एक दिन के लिए भी किसी मजबूरी में किसी पराए के वश में रही हो, दोबारा अपने घर स्वीकार कर सकता है? लेकिन क्या यह हिंदू स्त्रियों के साथ एक घोर अन्याय व अत्याचार नहीं है? और क्या स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार करने वाला समाज किसी दृष्टि से भी अपनी महानता व न्यायप्रियता की डींग हांक सकता है?

'रामायण' में श्री राम जिस छलकपट से बाली का वध करते हैं तथा विद्रोही सुग्रीव की सहायता कर के उसे उस के मृत भाई का राज्य तथा पत्नी तक दिला देते हैं, फिर रावण के देशद्रोही भाई विभीषण को भी शरण देते हैं तथा उसे रावण

का सिंहासन, और पत्नियां सौंपते हैं, वह सब यथार्थवादी कूटनीति के अंतर्गत तो ठीक हो सकता है, पर धर्मानुकूल कैसे हो गया? लेकिन जो हिंदू श्री राम अवतार मानते हैं, वह सब यथार्थवादी कूटनीति के अंतर्गत तो ठीक हो सकता है, पर धर्मानुकूल कैसे हो गया? लेकिन जो हिंदू श्री राम को अवतार मानते हैं, वे अपने धर्म में भी ऐसे गंदे हथकंडों के प्रति कोई अरुचि भाव कैसे रख सकते हैं? 'रामायण' में सुग्रीव और विभीषण की तथा 'महाभारत' में भीष्म की गद्दारी न नमकहरामी की जिस तरह खुल कर प्रशंसा की गई तथा उन के कायरतापूर्ण आचरण को एक महान आदर्श बताया गया है, उस के रहते किसी हिंदू के निकट देशभक्ति या नैतिक साहस की क्या कीमत रह सकती है?

फिर श्री राम शंबूक शूद्र का वध कर देते हैं, केवल इस कारण कि शूद्र हो कर उस ने विद्या प्राप्त करने, जपतप करने का दुस्साहस किया. क्या यह कार्य आज आदर्श या मर्यादापूर्ण माना जा सकता है?

'महाभारत' में युधिष्ठिर को धर्मराज की उपाधि दी गई है. लेकिन पक्का जुआरी था वह, वह झूठ बोलता था, भाई अर्जुन द्वारा विवाहित स्त्री (द्रौपदी) में वह हिस्सा बंटाता था, क्या ऐसे व्यक्ति आदर्श माने जा सकते हैं, क्या उन्हें धर्मराज कहा जा सकता है?

हमारे अश्लील धर्मग्रंथ क्या हमारा आदर्श है?

आधुनिक जीवन में अश्लीलता की बड़ी चर्चा की जाती है और इस के प्रदर्शन को आज के समाज के नैतिक पतन का लक्षण बताया जाता है. लेकिन अश्लीलता व नैतिक विश्रृंखलता का जैसा चित्रण श्री कृष्ण के जीवन तथा भागवत की कथाओं में हुआ है, उस के आगे तो आज की अश्लीलता भी शर्म से पानीपानी हो जाती है.

इस विषय में स्वामी सत्यभक्त ने अपने एक लेख में बहुत ठीक कहा है, "व्यभिचार व विलासिता दुनिया में सब कहीं हैं, लेकिन सब जगह इन्हें एक कमजोरी या बीमारी मान कर चलने दिया जाता है, कुछ लज्जा का भी अनुभव किया जाता है. पर इन बुराइयों को धर्म का अंग बनाना, इन्हें परमात्मा की लीला के रूप में चित्रित करना और धार्मिक कार्यक्रम का रूप दे कर इस के गीत गाना और (रासलीलाओं में) देखना सिर्फ इस पुण्य भूमि भारत की ही विशेषता है."

वह आगे लिखते हैं, "लैलामजनूं और शीरीफरहाद की प्रेम कहानियां पश्चिम एशिया में भी हैं. लेकिन वहां मजनूं या फरहाद को देवता या परमात्मा नहीं बनाया गया. यह गौरव सिर्फ भारत को ही प्राप्त है कि यहां के अविवाहित आशिकमाशूक (कृष्ण व राधा) परमात्मा हैं और राधेकृष्ण कहकह कर बड़ेबड़े वैरागी भी उन की माला जपते हैं?"

हमारे देश में ऐसे मंदिर भी हैं, जहां (कामशास्त्र के) चौरासी आसन मूर्तियों के रूप में दिखाए गए हैं. स्त्रीपुरुष के विशेष चिह्नों (गुप्तांगों) को संभोग की

अवस्था में मूर्तिमंत कर शिवालयों में विराजमान कर के पूजा जाना यहां का परम धर्म है. फिर मिट्टीपत्थर की मूर्तियां (शिवलिंग व योनियां आदि) ही अश्लील नहीं हैं, दिगंबर जैनियों के नग्न मुनि तो जीवित अश्लीलता हैं. वे शहरों में नंगे घूमते हैं, घरों में जा कर स्त्रियों के हाथ से भोजन लेते हैं और खड़ेखड़े भोजन लेते हैं ताकि जीवित अश्लीलता एक क्षण को भी नजरों से ओझल न हो सके.

ऐसीऐसी धार्मिक मान्यताओं के रहते हिंदू समाज में किसी प्रकार की यौन नैतिकता अथवा स्वस्थ आत्मनियंत्रण या अनुशासन की क्या उम्मीद की जा सकती है? ये सब गतिविधियां यौन विषयों में हिंदुओं के मानसिक रूप से रोगी होने के लक्षण नहीं तो और क्या हैं?

हमारे अन्य धर्म ग्रंथों में क्या है?

हमारे पुराणों में ऐसीऐसी बातें भरी पड़ी हैं कि किसी सभ्य समाज में बैठ कर उन्हें पढ़ना तक संभव नहीं है. लेकिन हिंदू समाज न सिर्फ इन अनहोनी और ऊटपटांग बातों पर विश्वास करता है, बल्कि बड़ी श्रद्धा के साथ इन्हें भगवान की लीला मान कर आज के वैज्ञानिक आविष्कारों को उन के आगे तुच्छ और हेय बताया है.

पुराणों की बकवास पर विश्वास करने वाले हिंदू समाज ने यदि व्यावहारिक विज्ञान की ओर शुरू से ध्यान ही नहीं दिया तो इस में आश्चर्य की क्या बात है? लेकिन इस के कारण उन्हें सदियों तक विदेशियों की दासता भी स्वीकार करनी पड़ी और दासता से बड़ी बुराई या पाप और क्या हो सकता है? क्या गुलामों का भी कोई चरित्र या नैतिक स्तर होता है!

हमारी स्मृतियों, गृह्यसूत्रों व धर्मशास्त्रों में वर्णव्यवस्था की जैसी व्याख्या की गई है, क्या आज के युग में भी हम उसी के अनुसार आचरण करें? क्या आज भी यदि वेद का एक शब्द किसी शूद्र के कान में पड़ जाए तो हम पिघला हुआ सीसा उस के कानों में भर दें? क्या आज भी किसी कला में निपुण होने वाले शूद्र का अंगूठा काट दिया जाए, जैसा कि द्रोण ने एकलव्य के साथ किया था? अथवा तपस्या करने वाले शूद्र की गरदन ही उड़ा दी जाए, जैसा कि स्वयं भगवान राम ने किया था?

दूसरे देशों में चरित्र की पवित्रता से ही व्यक्ति को धर्मात्मा या श्रेष्ठ माना जाता है. लेकिन यह विशेषता सिर्फ भारत व उस के हिंदू समाज की ही है कि यहां घोर दुराचारी भी धर्मात्मा कहला सकता है, बशर्ते कि वह धर्म के क्रियाकांडों का पालन करता हो. हमारे धर्मशास्त्री डंके की चोट पर ऐलान करते हैं कि एक जन्म में क्या, लाखों जन्मों में किया हुआ पाप भी सिर्फ भगवान का नाम लेने से माफ हो जाता है अथवा किसी तीर्थस्थान में जा कर स्नानादि करने से धुल जाता है. ऐसी हालत में कोई हिंदू भला काहे को पाप से बचेगा?

जाहिर है कि नहीं बचेगा. इसलिए भारत के करोड़ों हिंदू भक्ति, पूजा,

प्रार्थना, तीर्थयात्रा और साधुसेवा में कभी आंच नहीं आने देते, लेकिन व्यापार में मिलावट या चोरी, बेईमानी और धोखाधड़ी का कोई भी मौका हाथ से जाने नहीं देते. हिंदुओं ने समझ लिया है कि जिस प्रकार वे खुद भ्रष्ट, बेईमान और दुराचारी हैं, उसी तरह उन का भगवान भी भ्रष्ट, बेईमान और रिश्वतखोर है. अतः वे दिनरात पाप करते हुए भगवान की चापलूसी भी करते रहते हैं, ताकि भगवान इस झूठी खुशामद से खुश हो कर उन के पाप माफ करता रहे. ऐसी अनूठी व्यवस्थाओं के रहते चरित्र की पवित्रता या व्यक्तिगत ईमानदारी की क्या कीमत रह जाती है!

धर्म के नाम पर क्याक्या नहीं होता?

हमारे देश में धर्म के नाम पर क्या नहीं होता? भ्रष्टाचार और व्यभिचार तो होता ही है, शिशुहत्या, कन्याहत्या और मानवहत्या जैसे अपराध भी होते हैं. सच तो यह है कि भारतीय दंड विधान के अंतर्गत आने वाले कितने ही अपराध हमारे धर्मशास्त्रों के अनुसार बिलकुल पुण्यकार्य हैं! दासता, देवदासियों के रूप में वेश्यावृत्ति, अप्राकृतिक व्यभिचार, स्त्रियों का व्यापार, अवैध नशाखोरी, गांजा, चरस, शराब की स्मगलिंग, जुआ, ठगी, डकैती और अन्य गुरुतर अपराध, जैसे पेशेवर अपराधियों की दिनचर्या है, वैसे ही हमारे धर्म में भी प्रचलित है. इस सारी पृष्ठभूमि में यदि यह कहा जाए कि हमारा धर्म हमें सिर्फ अनैतिकता ही नहीं, बल्कि देश में लागू दंडविधान के विरुद्ध भी कई प्रकार के घोर अपराध करना सिखाता है तो यह अतिशयोक्ति न होगी.

अतः आप का जो यह विचार है कि 'अनैतिकता व चरित्रहीनता का सीधा संबंध सिर्फ व्यक्ति से है, न कि हिंदू समाज के धर्मग्रंथों व दर्शनशास्त्रों से,' वह बिलकुल गलत है. ये हिंदू धर्म के धर्मशास्त्र व मान्यताएं ही हैं, जो एक औसत हिंदू को नैतिक दृष्टि से पतित करती हैं और चरित्रहीन बनाती हैं. हां, यदि आप यह कहते हैं कि इन सब आदर्शों व मानदंडों के रहते हुए भी जो बहुत से हिंदू व्यक्तिगत रूप से चरित्रवान अथवा उच्च नैतिकता के मालिक हैं, यह उन हिंदुओं की अपनी व्यक्तिगत सफलता है और इस का सीधा संबंध उन के व्यक्तिगत साहस व प्रयास से है, तो आप की यह बात निश्चय ही युक्तिसंगत व सही होती.

आज की सब से बड़ी दुविधा यह है कि सारे सरकारी कर्मचारी, नेता तथा अन्य सार्वजनिक चिंतन के व्यक्ति भी (अपवादों को छोड़ कर) आज वैज्ञानिक दृष्टिकोण छोड़ कर धर्म के रथ और रुपए हड़पने में लगे हुए हैं, जिस कारण हम भारतीयों के राष्ट्रीय चरित्र का पतन हो रहा है. यही कारण है कि विश्व भर में हम पर कोई विश्वास नहीं करता और हमें स्वच्छ पारदर्शी मामलों में सीढ़ी पर सब से नीचे रखते हैं.

अंततः हमारा निवेदन है कि हमारे प्रकाशनों को गंभीर रूप से पढ़ा जाए और समझा जाए ताकि आप स्वयं ही निष्कर्ष निकालने में सक्षम हो कि क्या वास्तविकता है और कितना आक्षेप करने वालों में छल!

आत्मा और पुनर्जन्म दूसरे अन्य विषयों की तरह एक बहुचर्चित विषय है.

जब से मानव ने चिंतन आरंभ किया है तभी से सृष्टि, इस की उत्पत्ति, मैं क्या हूं? मृत्यु के बाद क्या होता है? आदि मानव चिंतन के विषय रहे हैं.

जीवन और मन का मिश्रण ही तथाकथित आत्मा है, क्योंकि जीवन और मन शरीर के बिना नहीं रह सकते. अत: अजरअमर आत्मा की बातें करना क्या व्यर्थ नहीं है?

इसलिए आत्मा और पुनर्जन्म संबंधी धारणाओं के बारे में किसी एक वर्ग के विचारों को धर्मनिरपेक्ष संविधान के तहत कानूनी मान्यता देना क्या अन्य वर्गों की वैचारिक, दार्शनिक और धार्मिक स्वतंत्रता का अपहरण नहीं है?

'आत्मा और पुनर्जन्म' पुस्तक एक निष्पक्ष विचारधारा प्रस्तुत कर को आप को भारतीय जनजीवन के तुलनात्मक अध्ययन तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का दर्शन कराएगी.

978-93-5065-173-5

www.vishvbook.com

₹120

VP: 1700